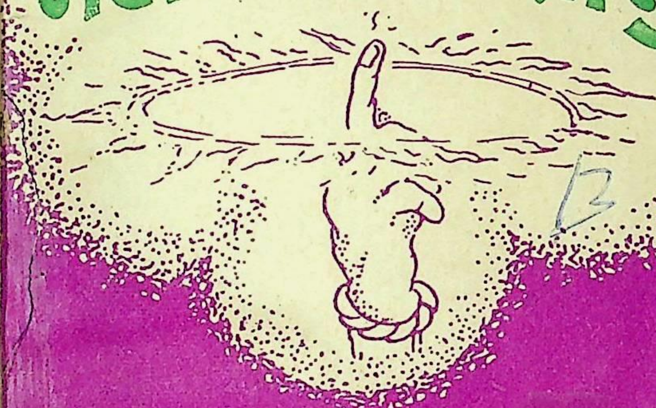
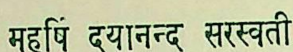
ना सुधा

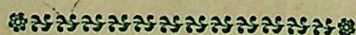
महाभारत-शिक्षा-सुधा

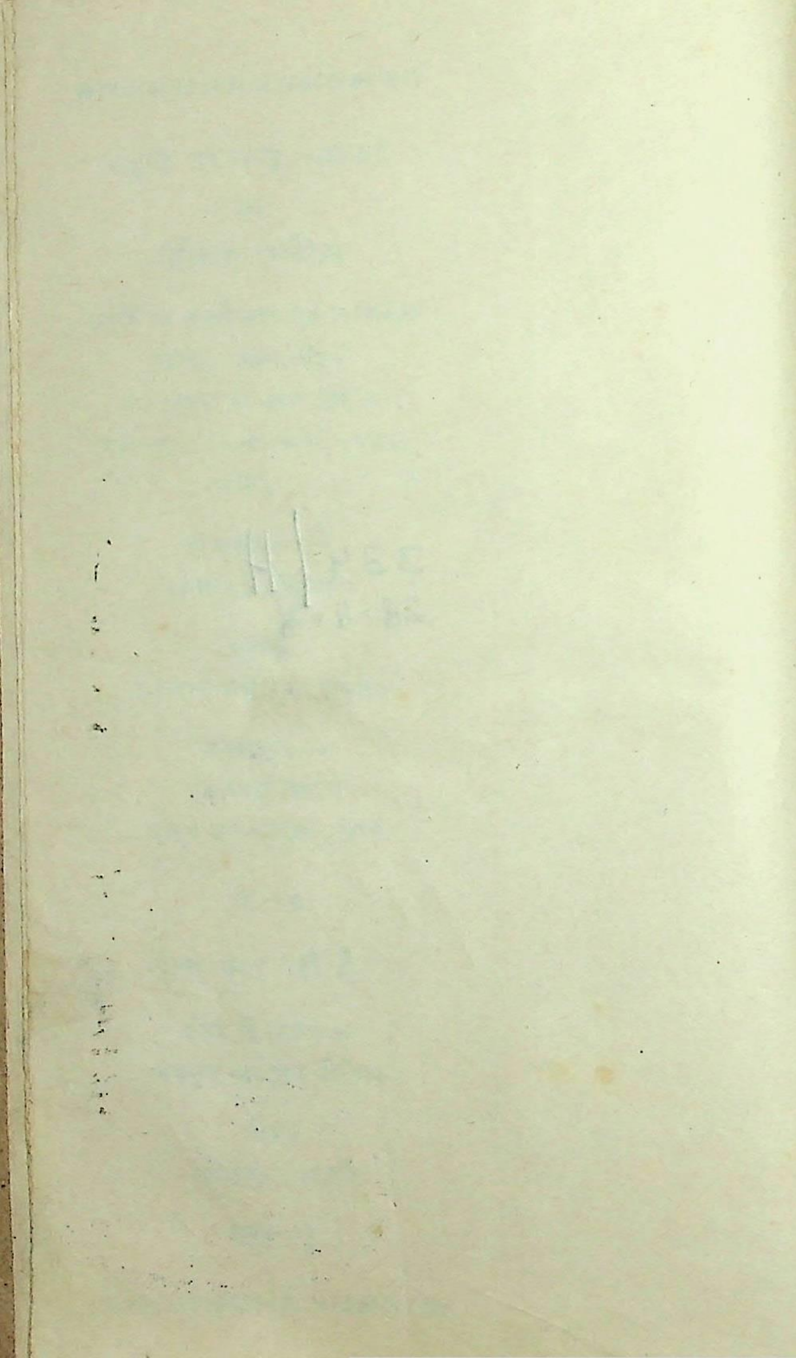


प्रकाशक

आर्य-साहित्य मण्डल लि॰
अजमेर







महाभारत-शिक्षा-सुधा

(महाभारत की उत्तमोत्तम शिक्षाऐं
एवम् उनका
अपूर्व विवेचन)

लेखकः—

स्वामी ब्रह्ममुनि

प्रकाशक



प्रथमावृत्ति १०००

दीपमालिका १९५३

मूल्य १।।)

मुद्रक—
शिरीशचन्द्र शिवहरे, एम. ए.
दि फ़ाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस,
अजमेर।

॥ ओ३म् ॥

पूर्व वचन

महाभारत सम्बन्धी इस पुस्तक को मैं ऐतिहासिक दृष्टि से पाठकों की सेवा में प्रस्तुत नहीं कर रहा हूँ। मैं इतिहास का विद्यार्थी नहीं हूँ। ऐतिहासिक दृष्टि से महाभारत पर अन्य विद्वानों ने पर्याप्त लिखा है, साथ इस ऐतिहासिक दृष्टि से ऐतिहासिक विद्वानों का मतभेद भी है। स्वयं महाभारत के वचन ही इसके साक्षी हैं। यथा—

मन्वादिभारतं केचिदास्तीकादि तथापरे।
तथोपरिचराद्यन्ये विप्राः सम्यगधीयते॥
(महा० अनुक्रमणिका प० अ० १ । ५२)

कई विद्वान् महाभारत का प्रारम्भ मनुवंश से, कुछ आस्तीक पर्व से और अन्य विद्वान् उपरिचर की कथा से इसे ठीक जानते तथा पढ़ते हैं।

'महाभारत' के आदि या प्रारम्भ के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न मत हैं। परन्तु महाभारत के या महाभारतान्तर्गत श्लोकों की संख्या के सम्बन्ध में भी कहा है—

इदं शतसहस्रं तु श्लोकानां पुण्यकर्मणाम्।
उपाख्यानैः सह ज्ञेयमाद्यं भारतमुत्तमम्॥
चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारत संहिताम्।
उपाख्यानैर्विना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः॥
(महा० अनुक्रमणिका प० अ० १ । १०१, १०२)

व्यासजी ने तो आदि महाभारत चौबीस सहस्र श्लोकों की बनाई

थी जिस में उपाख्यान, अलङ्कार, दृष्टान्त, उपन्यास, अतथ्यकथन नहीं थे, किन्तु शुद्ध इतिहास ही था। पुनः उपाख्यानों अर्थात् अलंकारों, उपन्यासों, दृष्टान्तों और अतथ्यकथनों को डाल देने से महाभारत एक लाख श्लोकों में बन गई जो आज विद्यमान है।

अत एव महाभारत में आए शिक्षा सम्बन्धी वचनों को लेकर उन्हें एक आवश्यक और उपयोगी क्रम देकर अर्थ तथा क्वचित्-विवेचन के साथ रख स्वतन्त्र पुस्तक रूप में "महाभारत शिक्षा-सुधा" के नाम से पाठकों की सेवा में प्रस्तुत किया जाता है और आशा है इससे उपदेशक, व्याख्याता, कथावाचक, स्वाध्यायी, लेखक, विद्यार्थी एवं जन-साधारण भी लाभ उठा सकेंगे।

स्वामी ब्रह्ममुनि

॥ ओ३म् ॥

महाभारत शिक्षा-सुधा

विषय सूची

चतुर्थ पार्श्व

वेद-विद्यादि संस्थान

पञ्चम पार्श्व

.... सामाजिक-संस्थान

.... षष्ठ पार्श्व

राष्ट्रिय-संस्थान

विषय पृष्ठ

नवम पार्श्व

धर्म-कर्म-संस्थान

दशम पार्श्व

वैराग्य-संस्थान

एकादश पार्श्व

योग-संस्थान

विषय पृष्ठ

द्वादश पार्श्व

सद्व्रत-सत्यसङ्कल्प संस्थान

त्रयोदश पार्श्व

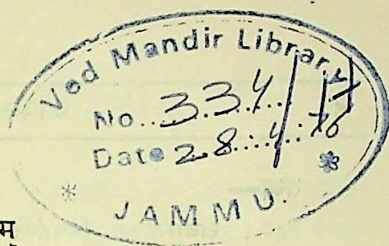
सुख-दुःख-अभ्युदय-संस्थान

चतुर्दश पार्श्व

ऐतिहासिक विशिष्ट-वृत्त संस्थान

विषय





ओ३म्

महाभारत-शिक्षा-सुधा

प्रथम-पार्श्व

जीवन-संस्थान

जीवन और जीवनयात्रा—

द्वन्द्वमेति च निर्द्वन्द्वस्तासु तास्विह योनिषु ।
शीर्षरोगेऽक्षिरोगे च दन्तशूले गलग्रहे ॥
जलोदरे तृषारोगे ज्वरगण्डे विषूचके ।
श्वित्रकुष्ठे ऽग्निदग्धे च सिध्मापस्मारयोरपि ॥
यानि चान्यानि द्वन्द्वानि प्राकृतानि शरीरिषु ।
उत्पद्यन्ते विचित्राणि तान्येषोऽभिमन्यते ॥

(महा० शान्ति प० मोक्षधर्म० अध्याय ३०१ । ५—७)

स्वरूप से यह पवित्र जीव 'कर्मानुसार' उन उन योनियों में दुःखसंकट को प्राप्त होता है, यथा—शिरपीड़ा में, नेत्ररोग में, दन्त-शूल में, कण्ठावरोध में, जलोदर में, तृषारोग में, ज्वररोग में, गण्डमाला रोग में, विषूचक-वमनविरेचनयुक्त ज्वर में, श्वेत तथा गलित कुष्ठ में, अग्निदाह में, अपस्मार में, रोगरूप दुःख संकटों से अतिरिक्त जो विचित्र प्राकृतिक उत्पात कृत दुःख संकट प्राणियों में उत्पन्न होते हैं उनको भी अनुभव करता है ।

तथा—

स्रवन्ति न निवर्तन्ते स्रोतांसि सरितामिव ।
आयुरादाय मर्त्यानां रात्र्यहानि पुनः पुनः ॥

(महा० शांति० मोक्ष० अ० ३३२ । ५)

जैसे नदियों के सोते बहते हुए लौटते नहीं हैं इसी भाँति दिन रातें भी मनुष्य की आयु को बारंबार ले लेकर चले जाते हैं वे लौटते नहीं हैं ॥

अपि च—

रथः शरीरं भूतानां सत्त्वमाहुस्तु सारथिम् ।
इन्द्रियाणि हयानाहुः कर्मबुद्धिस्तु रश्मयः ॥
तेषां हयानां यो वेगं धावतामनुधावति ।
स तु संसारचक्रेऽस्मिंश्चक्रवत् परिवर्तते ॥

(महा० स्त्री प० अ० ८ । १४, १५)

प्राणियों का शरीर रथ है, बुद्धि को सारथि कहते हैं, इन्द्रियों को घोड़ा बतलाते हैं और मन बागडोर है । जो मनुष्य घोड़ों के वेग के पीछे दौड़ता है वह तो इस संसार चक्र में चक्र की भाँति घूमा करता है, भटकता रहता है ॥

अतः—

धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत् पाणिपादं च चक्षुषा ।
चक्षुःश्रोत्रे च मनसा मनो वाचं च विद्यया ॥
अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः ।
आत्मनैव सहायेन यश्चरेत् स सुखी भवेत् ॥

(महा० शांति० मोक्ष० अ० ३३० । २८,३०)

जो मनुष्य उपस्थेन्द्रिय और उदर की, धैर्य (संयम) से रक्षा करे, हाथ पाँव की नेत्र दृष्टि से, नेत्र और कान की मन से, मन और वाणी की विद्या से रक्षा करे, तथा अध्यात्मविषय में रुचि रखता

हुआ, अपने अन्तरात्मा में सन्तुष्ट रहता हुआ, शान्त, आत्मावलम्बी निःस्पृह एवं अमांसभोजी (शाकान्नभोजी) हो अपने ही सहाय से जीवनचर्या करता है वह सुखी होता है ॥

दीर्घ आयु की प्राप्ति का साधन बहिर्निवास—

मृत्योर्वा गृहमेतद्वै या ग्रामे वसतो रतिः।
देवानामेष वै गोष्ठो यदरण्यमिति श्रुतिः ॥

(महा० शांति० मोक्ष० अ० २७७ । २६)

ग्राम-नगर-निवास में रुचि या प्रवृत्ति रखना मृत्यु का घर है अर्थात् आयु को क्षीण करने का कारण है और जो अरण्य अर्थात् ग्राम-निवास से अलग, बाहर खुले में निवास करना देवों, अमरजनों दीर्घ आयु प्राप्त करने वालों का स्थान है, यह प्रसिद्धि है ॥

वृद्धों का मत आयुवृद्धि का कारण—

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते ॥

(महा० उद्योग प० प्रजा० अ० ३८ । १
अनुशासन प० अ० १०४ । ६६)

वृद्धों, मान्यजनों के आने पर छोटे के प्राण उखड़ जाते हैं, पुनः आदर के लिये खड़े होने और प्रणाम करने से वे यथास्थान हो जाते हैं—स्वस्थ हो जाते हैं ॥

पुनश्च—

मातापितरमुत्थाय पूर्वमेवाभिवादयेत्।
आचार्यमथवाप्यन्यं तथायुर्विन्दते महत् ॥
आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादस्तु संविशेत्।
आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो वर्षाणां जीवते शतम् ॥

(महा० अनुशा० अ० १०४ । ४४, ६५)

माता पिता को उठकर प्रणाम करे एवं आचार्य तथा अन्य

वैसे विद्वान् को भी करे। ऐसा करने से बड़ी आयु प्राप्त होती है। गीले पैर करके भोजन करे, गीले पैरों सोए नहीं, गीले पैर करके भोजन खाने वाला सौ वर्ष जीवित रहता है ॥

ब्रह्मचर्य एवं सदाचार आदि सुगुण आयु बढ़ाते हैं—

ब्रह्मचर्येण जीवितम् ।

(महा० अनुशासन प० अ० ५७ । १०)

ब्रह्मचर्य के सेवन से जीवन अर्थात् आयु प्राप्त होती है ।

तथा—

आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम् ।
आचारात् कीर्तिमाप्नोति पुरुषः प्रेत्य चेह च ॥ ६ ॥
दुराचारो हि पुरुषो नेहायुर्विन्दते महत् ॥ ७ ॥
अपि पापशरीरस्य आचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ ८ ॥
अधर्मज्ञा दुराचारास्ते भवन्ति गतायुषः ॥ ११ ॥
विशीला भिन्नमर्यादा नित्यं संकीर्णमैथुनाः ॥
अल्पायुषो भवन्तीह नरा निरयगामिनः ॥ १२ ॥
अक्रोधनः सत्यवादी भूतानामविहिंसकाः ॥
अनसूयुरजिह्मश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥ १४ ॥
लोभमर्दी तृणच्छेदी नखखादी च यो नरः ।
नित्योच्छिष्टः संकुसुको नेहायुर्विन्दते महत् ॥ १५ ॥
नेक्षेतादित्यमुद्यन्तं नास्तं यान्तं कदाचन ।
नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम् ॥ १७ ॥
ऋषयो नित्यसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुवन् ॥ १८ ॥

(महा० अनु० । अ० १०४)

मनुष्य सदाचार से आयु प्राप्त करता है, सदाचार से शोभा प्राप्त करता है, सदाचार से इस जन्म में और मरकर भी कीर्ति प्राप्त करता है। दुराचारी मनुष्य यहां अधिक आयु को नहीं प्राप्त

करता है, किन्तु सदाचार पापी जन के दोषों को भी नष्ट करता है। धर्म के ज्ञान से रहित दुराचारी जन आयु से हीन हो जाते हैं। कुटिल स्वभाव वाले, मर्यादा भंग करने वाले, नित्य मैथुन में लिप्त हुए जन दुःख में पड़ने वाले और थोड़ी आयु वाले होते हैं। क्रोधरहित, सत्यवादी, प्राणियों की हिंसा न करने वाला, अनिन्दक, कुटिलतारहित जन सौ वर्ष जीवित रहता है। जो मनुष्य व्यर्थ ढेले तोड़ने वाला, तिनके तोड़ने वाला, नख खाने वाला, सदा झूठा खाने वाला, चंचल मन वाला—चलचित्त अधिक नहीं जीवित रहता। उदय होते हुए, अस्त होते हुए, ग्रहण लगे हुए, जल में प्रतिविम्बित हुए तथा आकाश के मध्य में आए हुए सूर्य को न देखो। ऋषियों ने दीर्घ सन्ध्या, अधिक ध्यान, योगाभ्यास द्वारा दीर्घ आयु को प्राप्त किया है।

अहिंसा से दीर्घ आयु—

अहिंसया च दीर्घायुरिति प्राहुर्मनीषिणः।

(महा० अनु० अ० १६७। १९)

अहिंसा से दीर्घ आयु होती है ऐसा ऋषि मुनि कहते हैं।

मांस न खाने से आयुप्राप्ति—

आमिषप्रतिसंहारात् प्रजा ह्यायुष्मती भवेत्।

(महा० अनु० अ० ५७। १७)

लोग मांस परित्याग से आयुष्मान् होते हैं।

आयु की वृद्धि और ह्रास की दिनचर्या—

अनायुष्यं दिवास्वप्नं तथाभ्युदितशायिता।
प्रगे निशामाशु तथा नैवोच्छिष्टाः स्वपन्ति वै॥

(महा० अनुशासन प० अ० १०४। १३९)

दिन में सोना और सूर्योदय पर सोना आयु को कम करता है। सायं शीघ्र तथा झूठे मुख-हाथ भी नहीं सोना चाहिए उससे भी आयु कम होती है।

——

द्वितीय पार्श्व

आश्रम-संस्थान

चार आश्रम—

गृहेषु वनवासेषु गुरुवासेषु भिक्षुषु ॥

(महा० आश्वमेध प० अ० ३२ । ५)

यहाँ गृहवासी, वनवासी, गुरुवासी (ब्रह्मचारी), भिक्षु (संन्यासी) का कथन चार आश्रमों का द्योतक है ।

तथा—

गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः ।
चत्वार आश्रमाः प्रोक्ताः सर्वे गार्हस्थ्यमूलकाः ॥

(महा० आश्वमेध प० अ० ४५ । १३)

गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी चार आश्रम कहे हैं ये सब गृहस्थ आश्रम पर निर्भर हैं ।

ब्रह्मचर्य—

विशुद्ध ब्रह्मचर्य पालन का साधन—

निष्कल्मषं ब्रह्मचर्यमिच्छता चरितुं सदा ।
निद्रा सर्वात्मना त्याज्या स्वप्नदोषानवेक्षता ॥
स्वप्ने हि रजसा देही तमसा चाभिभूयते ।
देहान्तरमिवापन्नश्चरत्यपगतस्पृहः ॥

(महा० शांति प०, मोक्ष०, अ० २१६ । १–२)

निष्पाप ब्रह्मचर्य पालन के इच्छुक जन को सदा स्वप्न के दोषों को देखते हुए सर्वथा निद्रा छोड़ देनी चाहिये । कारण कि स्वप्न में जीव रजोगुण और तमोगुण से वशीभूत हो जाता है, इच्छा रहित होता हुआ भी अन्य देह को प्राप्त हुआ जैसा विचरता है ।

ब्रह्मचर्य से आयुप्राप्ति—

ब्रह्मचर्येण जीवितम् । (महा०, अनुशासन प०, अ० ५७।१०)

ब्रह्मचर्य से आयु प्राप्त होती है।

ब्रह्मचर्य से मृत्यु को स्वाधीन करना—

पितृभक्तोऽसि राजर्षे मार्कण्डेय इवापरः ।
तेन मृत्युस्तव वशे स्थितो भृत्य इवानतः ॥

(महा० अनुशासन प० अ० १६७।४४)

हे भीष्मपितामह राजर्षि ! तू मार्कण्डेय के समान पितृभक्त है तूने पिता के निमित्त आजीवन ब्रह्मचर्य का व्रत पालन किया है। अतः मृत्यु तेरे वश में नौकर के समान नम्र हुई है।

ब्रह्मचर्य पालन से मृत्यु को स्वेच्छानुसार पाना—

स मां त्वमनुजानीहि कृष्ण मोक्ष्ये कलेवरम् ॥

(महा० अनुशासन प० अ० १६७।४५)

अच्छा हे कृष्ण ! अब मुझे अनुमति दो, मैं शरीर छोड़ूँगा।

ब्रह्मचर्य के अन्य गुण—

ब्रह्मचर्यस्य च गुणं शृणु त्वं वसुधाधिप ! ।
आजन्ममरणाद् यस्तु ब्रह्मचारी भवेदिह ।
न तस्य किञ्चिदप्राप्यमिति विद्धि नराधिप ! ॥

(महा० अनुशासन प० अ० ७५।३४,३५)

हे पृथिवीपते राजन् ! तू ब्रह्मचर्य के गुण सुन, यहाँ जो जन्म से मरण पर्यन्त ब्रह्मचारी रहे उसके लिए कुछ भी अप्राप्य नहीं रहता ऐसा तू जान।

संयम से परमात्मदर्शन—

यदा संहरते कामान् कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
तदाऽऽत्मज्योतिरात्माऽयमात्मन्येव प्रपश्यति ॥

(महा०, शांति प०, मोक्ष० ७४।५४)

आत्मा जब कामभावों, भोगेच्छाओं को प्रत्याहृत,(संहृत, अन्तर्लीन) करता है जैसे कच्छुआ अपने अङ्गों को अन्दर छिपाता है तब अपने अन्तरात्मा में ही परमात्म ज्योति को देखता है।

दमन (इन्द्रियदमन) रूप संयम के लाभ—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
संनियम्य तु तान्येव सिद्धिमाप्नोति मानवः ॥
(महा० शांति प० मोक्ष० अ० ३२३।८)

मनुष्य इन्द्रियों के प्रसङ्ग से निःसन्देह दोष को प्राप्त होजाता है परन्तु उन्हीं इन्द्रियों को नियन्त्रित करके, दमन करके सिद्धि को प्राप्त करता है।

तथा—

दमेन ही समायुक्तो महान्तं धर्ममश्नुते ।
सुखं दान्तः प्रस्वपिति सुखं च प्रतिबुध्यते ॥
अदान्तः पुरुषः क्लेशमभीक्ष्णं प्रतिपद्यते ।
अनर्थांश्च बहूनन्यान् प्रसृजत्यात्मदोषजान् ॥
निष्क्रम्य वनमास्थाय ज्ञानयुक्तो जितेन्द्रियः ।
कालाकांक्षी चरत्येव ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
(महा०, शांतिप०, आपद्धर्म०, अ० १६०।११, १२, २५)

दमन अर्थात् इन्द्रि संयम से युक्त मनुष्य महान् गुण को प्राप्त होता है, दमनशील, संयमी जन सुख से सोता है और सुख से जागता है। इन्द्रिय-लोलुप-व्यसनी मनुष्य पुनः पुनः क्लेशों को भोगता है तथा अपने दोषों से हुए वहुत से अन्य अनर्थों की सृष्टि करता है, किन्तु जितेन्द्रिय जन घर से निकल कर वन में जा, ज्ञान युक्त हो, काल से भय न करता हुआ विचरता ही है, ऐसा वह ब्रह्मभाव अर्थात् ब्रह्मानन्द के लिए समर्थ होता है।

गृहस्थ का संयम—

परदाररतिर्यश्च यश्च बन्ध्यामुपासते ।
ब्रह्मस्वं हरते यश्च समदोषा भवन्ति ते ॥
तस्मात् परस्य वै दारांस्त्यजेद् वन्ध्यां च योषितम् ।
ब्रह्मस्वं हि न हर्तव्यमात्मनो हितमिच्छता ॥
(महा० अनुशासन प० अ० १३९।२, ४)

जो मनुष्य परस्त्री गमन और बन्ध्या गमन करता है तथा जो ब्राह्मण का धन हरता है, ये तीनों समान पाप हैं। अतः अपने हित के इच्छुक जन को परस्त्री-गमन और बन्ध्या-स्त्री-गमन छोड़ना चाहिए एवं ब्राह्मण का धन भी न हरना चाहिए।

सदाचार से लाभ और दुराचार से हानि—

आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम् ।
आचारात् कीर्तिमाप्नोति पुरुषः प्रेत्य चेह च ॥
दुराचारो हि पुरुषो नेहायुर्विन्दते महत् ।
अपि वा पापशीलस्य आचारो हन्त्यरक्षणम् ॥
अधर्मज्ञा दुराचारास्ते भवन्ति गतायुषः ॥
विशीला भिन्नमर्यादा नित्यं संकीर्णमैथुनाः ।
अल्पायुषो भवन्तीह नरा निरयगामिनः ॥
(महा० अनुशासनप० अ० १०४।६,७,८,११)

मनुष्य सदाचार से आयु को प्राप्त करता है और सदाचार से शोभा, कान्ति को प्राप्त होता है, सदाचार जीवनकाल में और मर कर भी कीर्ति को प्राप्त करता है। सदाचार दोषी मनुष्य के भी दोष को नष्ट कर देता है। दुराचारी मनुष्य आयु को पूरी नहीं भोगपाता है।

कामवृद्धि अहितकर—

कामं कामयमानस्य यदा कामः समृध्यते ।
अथैनमपरः कामस्तृष्णा विध्यति बाणवत् ॥
(महा० अनुशासनप० अ० ९३।४७)

कामभाव के चाहने वाले का जब कामभाव बढ़ जाता है तो पुनः अन्य कामभाव तृष्णा रूप उसे बाण की भांति बींध देता है।

गृहस्थ—

गृहस्थ सब आश्रमों का मूल है—

चत्वारः आश्रमाः प्रोक्ताः सर्वे गार्हस्थ्यमूलकाः।

(महा० आश्वमेधिक प० अ० ४५ । १३)

चार आश्रम कहे गए हैं वे आश्रम सब गृहस्थमूलक हैं, गृहस्थ आश्रम उनका मूल आश्रम है, यहाँ से ही सब की उपज है।

गृहस्थ सब आश्रमों का आश्रम है—

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
एवमाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥

(महा० शान्ति प० मोक्षध० अ० २९५ । ३९)

जैसे नदियें और नद (बड़ी नदी) सब समुद्र में आश्रय लेते हैं, उसी प्रकार समस्त आश्रमी जन गृहस्थ आश्रम में आश्रय लेते हैं।

गृहस्थ के लिये परस्त्रीगमन और वन्ध्या गमन दोष है—

परदाररतिर्यश्च यश्च बन्ध्यामुपासते।
ब्रह्मस्वं हरते यश्च समदोषा भवन्ति ते॥
तस्मात्परस्य वै दारांस्त्यजेद् वन्ध्यां च योषितम्।

(महा० अनुशासन प० अ० १२९ । २, ४)

परस्त्रीगमन करने वाला और जो बन्ध्यागमन करने वाला है तथा जो ब्राह्मण का धन हरता है ये समान दोष वाले हैं। अतः गृहस्थ को परस्त्रीगमन तथा अपनी स्त्री बन्ध्या हो तो उससे भी समागम न करना चाहिए।

गृहस्थ अपनी स्त्री से भी अनृतु गमन न करे—

भार्यां गच्छन् ब्रह्मचारी ऋतौ भवति चैव हि॥

(महा०, अनुशासन प०, अ० ९३ । ११)

ऋतुकाल में स्त्री समागम करते हुए भी गृहस्थ ब्रह्मचारी कहलाता है अर्थात् अपनी स्त्री से भी अनृतु गमन करना व्यभिचार है।

सन्ततिमोह पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में तथा गृहस्थ सुख होता है स्त्री को—

अधिक यथा महाभारत के अनुशासन पर्व अध्याय १२ में एक कथा प्रदर्शित की है कि—

भङ्गास्वन राजर्षि अपुत्र थे, उन्होंने पुत्र प्राप्ति के लिये यज्ञ किया, अग्नि देवता की स्तुति की। सौ पुत्र उत्पन्न होगए परन्तु इन्द्र-देवता अप्रसन्न-हुए मेरी स्तुति क्यों नहीं की (राजा के समस्त कार्य इन्द्रदेवता की स्तुति से होने चाहिए) । उस स्थिति में राजा पर इन्द्र अप्रसन्न हुआ और कुछ उसका अनिष्ट करना निश्चय किया। एक बार राजा घोड़े पर चढ़ मृगया के लिये जङ्गल में चल दिए। जङ्गल में सरोवर मिला। उसने उसमें स्नान किया तो इन्द्र ने सरोवर में ही स्नान करते हुए उस राजा को स्त्री बना दिया। राजा ने अपने को स्त्री पाया तो घोड़े पर चढ़कर नगर में अपने सो पुत्रों को राज्य समर्पित कर वन में जा एक तपस्वी को पति बना, तापसी बन गया और तपस्वी से अन्य सौ पुत्र उत्पन्न किए। कुछ बड़े होने पर उन्हें वह तापसी अपने प्रथम सौ पुत्रों के पास लेगई और प्रथम सौ पुत्रों से कहा कि तुम मेरे पुरुष रूप से पुत्र हो ये मेरे स्त्री रूप से हुए पुत्र हैं। ये तुम्हारे भाई हैं तुम मिलकर राज्य करो। पुनः दो सौ पुत्र राज्य करने लगे। इन्द्र ने सोचा मैंने तो इसके अनिष्ट के लिये इसे स्त्री बनाया था किन्तु द्विगुण इष्ट-सिद्धि हो गई। सौ पुत्रों के दो सौ पुत्र होगए और सब मिलकर राज्य करने लगे। पुनः उन पुत्रों में फूट डालने का निश्चय कर ब्राह्मण वेष में इन्द्र ने आकर प्रथम सौ पुत्रों को कहा कि एक पिता के भी पुत्रों में राज्य में भ्रातृत्व (भाईचारा) नहीं होता जैसे कश्यप पुत्र सुर और असुर थे, परन्तु राज्य में भ्रातृत्व नहीं हुआ

और तुम भङ्गास्वन राजा के और ये दूसरे सौ तापस-तापसी के पुत्र हैं तुम्हारा पैतृक राज्य तापस-पुत्र भोगें, यह ठीक नहीं। पुनः दोनों पुत्र-वर्गों में युद्ध हो गया और सब मरगए। तापसी रोने लगी इन्द्र ने ब्राह्मण-वेष होकर कहा—क्यों मुझे यज्ञ में नहीं बुलाया उसका फल चखा। तापसी इन्द्र के चरणों में गिर पड़ी और कहा—क्षमा करें। इन्द्र को दया आई और प्रसन्न होकर बोला कि तेरे दो सौ पुत्रों में से सौ पुत्र जीवित कर दूँगा बोल कौन से सौ जीवित करूँ, पुरुष रूप से उत्पन्न हुए या स्त्री रूप से उत्पन्न हुए। तब तापसी ने कहा कि स्त्री रूप से उत्पन्न हुए।

स्त्रीभूतस्य हि ये पुत्रास्ते मे जीवन्तु वासव ! ॥४४॥

'हे इन्द्र ! स्त्री रूप से उत्पन्न हुए मेरे पुत्र जीवित हों।'

इन्द ने पूछा—क्यों तूने ऐसा वर मांगा। तापसी ने कहा—पुरुष की अपेक्षा स्त्री में पुत्रों के प्रति अधिक स्नेह होता है, अतः तुलना में मुझे स्त्री रूप के पुत्रों में अधिक स्नेह है। पुनः इस सत्यता से प्रसन्न हो इन्द्र ने दूसरा वर मांगने को कहा—अब तू पुरुष रूप में होना चाहती है या स्त्री रूप में रहना चाहती है, जैसा चाहे वैसा करदूं। तापसी ने कहा—स्त्री रूप में ही रहना चाहती हूं—

स्त्रीत्वमेव वृणे शक्र ! पुंस्त्वं नेच्छामि वासव ! ॥५०॥

'हे इन्द्र ! मैं स्त्री रूप ही चाहती हूं, पुरुष रूप नहीं चाहती।'

नियोग—

वीणासु वाद्यमानासु गन्धर्वैः शक्रनन्दन !।
अपि चान्याश्च शत्रुघ्न तव पित्रा विसर्जिताः।
ततोऽहं समनुज्ञाता तेन पित्रा च हेऽनघ ॥
सुपुत्राऽद्य पृथा तात ! त्वया पुत्रेण सत्तम।
ऋषयोऽपि हि धैर्येण जिता वै ते महाभुजा ! ॥

(महा०, वन प०, इन्द्रलोकाभि०, अ० ४६)

उर्वशी अर्जुन से कहती है—हे इन्द्र के पुत्र! गन्धर्वों द्वारा वीणा वादन-काल में मुझे और अन्य अप्सराओं को भेजा, तब मैं उस तेरे पिता इन्द्र की प्रेरित हो आज्ञा पाकर आई, परन्तु तूने तो अपने धैर्य से ऋषि भी जीत लिये, ऐसे तुझ पुत्र से पृथा कुन्ति तेरी माता सुपुत्रा सिद्ध हुई।

यहाँ देवों के राजा इन्द्र और कुन्ति के विनियोग से अर्जुन का होना स्पष्ट है।

तथा—

भीष्मो द्रोणः कृपः कर्णः शकुनिः सह राजभिः।
संग्रामस्थस्य ते पुत्र! कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥

(महा० वन प० निवातकवच युद्ध० अ० १७४। ३)

इन्द्र अर्जुन को कहते हैं—हे पुत्र! भीष्मपितामह, द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण, शकुनि आदि राजाओं के सहित अन्य संग्राम में स्थित तेरी सोलहवीं कला को भी प्राप्त नहीं कर सकते।

यहां इन्द्र ने स्वयं अर्जुन को पुत्र कहा है।

चार ऋण चुकाना नित्य कर्म—

ऋणैश्चतुर्भिः संयुक्ता जायन्ते मानवा भुवि।
पितृदेवर्षिमनुजैर्देयं तेभ्यश्च धर्मतः॥

(महा० आदि प० सम्भव० अ० १२। १८।)

मनुष्य चार ऋणों से युक्त होते हैं। वे चार ऋण हैं—पितृऋण, देवऋण, ऋषिऋण और मनुष्यऋण। पितृऋण—माता-पिता आदि पारिवारिकजन के पालन का, देवऋण—वायु आदि के सेवन का जो शोधन द्वारा पूरा किया जाता है, ऋषिऋण—विद्वानों से अध्ययन, शिक्षा प्राप्ति तथा पुरातन ऋषि मुनियों के ग्रन्थों से शिक्षा प्राप्ति का, मनुष्य ऋण—भिन्न भिन्न मनुष्य के प्रयत्नों से प्राप्त वस्तुओं के सेवन का होता है।

अतिथि-यज्ञ या अतिथि सेवा—

अतिथिः पूजितो यद्धि ध्यायते मनसा शुभम् ।
न तत्क्रतुशतेनापि तुल्यमाहुर्मनीषिणः ॥
पात्रं त्वातिथिमासाद्य शीलाढ्यं यो न पूजयेत् ।
स दत्त्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति ॥

(महा० अनुशासन प० अ० । ६२, ९३)

सत्कार पाया हुआ अतिथि जो मन से यजमान या गृहस्थ का शुभ चिन्तन करता है उसे सैकड़ों यज्ञों के तुल्य ऋषि मुनिजन कहते हैं। शीलगुण सम्पन्न पात्र अतिथि को जो नहीं पूजता है उसको अतिथि अपना दुष्कृत देकर और उसका पुण्य लेकर चला जाता है।

तथा—

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्तते ।
स दत्त्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति ॥

(महा० शान्ति प० अ० १९१ । १२)

जिसके घर से अतिथि निराश होकर लौटता है वह उसके लिये दुष्कृत देकर और पुण्य लेकर चला जाता है ॥

अतिथि-सेवा न करना पाप है—

स्त्रीघ्नैर्गोघ्नैः कृतघ्नैश्च ब्रह्मघ्नैर्गुरुतल्पगैः ।
तुल्यदोषो भवत्येभिर्यस्यातिथिरनर्चितः ॥

(महा० अनुशासनप० अ० १२६ । २८)

स्त्री-घातक, गो घातक, कृतघ्न, ब्रह्मघातक और गुरुपत्नीगामी के तुल्य दोषी होता है जिसने अतिथि का सत्कार न किया हो।

अतिथि-सेवा पर कथा महाभारत आश्वमेधिक पर्व में आई है—

युधिष्ठिर के यज्ञ में ब्राह्मणों अतिथियों का महान् स्वागत धन आदि से किया गया। युधिष्ठिर उस अतिथि-सेवा के महत्त्व को पूछ

और कीर्ति को सुनकर प्रसन्न हो रहे थे कि एक नकुल (नेवला) आधा सुनहरी शरीर लिये हुए युधिष्ठिर से बोला—युधिष्ठिर ! तेरे यज्ञ एवं अतिथि-सत्कार कुछ नहीं। अतिथि सत्कार तो कापोति उञ्छवृत्ति ब्राह्मण का था। वृद्ध अतिथि के प्रक्षालित हस्त (धोए हाथ) के जल ने मेरे आधे अङ्ग पर गिरते ही उसे तुरन्त सुनहरी बना दिया, परन्तु तेरे यज्ञ में आए अतिथियों के धोए हाथों के जल में मैं समूचा ही भीगता लोटता रहा पर एक भी अन्य बाल सुनहरी न बना, जैसा और जितना कापोति ब्राह्मण के अतिथि-सत्कार प्रसङ्ग में सुनहरी बन गया था, उतना ही रहा। मैं यह सुनकर आया था कि यहां तेरे यज्ञ में बड़ा भारी अतिथि सत्कार होगा और यहां अतिथियों की तृप्ति के प्रक्षालित हस्तजल से शेष आधा भी सुनहरी बन जाऊंगा, परन्तु तेरे यज्ञ, तेरे अतिथि-सत्कार से वह ऊंचा था। वह कैसा था सुना देता हूँ। एक कापोति ब्राह्मण ने यथा नाम तथा गुण कपोत-कबूतर की भांति उञ्छवृत्ति अर्थात् खेत के कट जाने पर अन्न के कृषक द्वारा उठा लिये जाने पर, कण कण एकत्र कर उस पर निर्वाह करने की वृत्ति बना रखी थी। उसके परिवार में वह स्वयं, उसकी पत्नी, पुत्र और पुत्रवधू ये चार व्यक्ति थे। एक बार दुर्भिक्ष पड़ा, छठे दिन कहीं एक सेर यव मिले, उनका सत्तू बनाया। चारों का एक एक पाव विभाग हुआ और खाने को बैठने लगे तो तुरन्त एक अथिति आ गया और कहने लगा कि मैं बारह दिन का भूखा हूँ, मुझे अन्न मिले। ब्राह्मण ने उसे बिठाया और अपना भाग एक पाव सत्तू का उस अतिथि के आगे रखने लगा और कहने लगा कि महाराज आप मुझ से अधिक इस अन्न के अधिकारी हैं मैं तो छः ही दिन का भूखा हूं पर आप बारह दिन के भूखे हैं, आप बारह दिन तक बिना अन्न के जीवित रहे हैं तो मैं भी इस बीच में बिना अन्न न मर सकूंगा और बारह दिन तक पुनः अन्न प्राप्त कर ही लूंगा। यह देख उस की पत्नी बोली

कि मैं अपना भाग अतिथि को दूंगी क्योंकि स्त्री के खाते हुए पुरुष भूखा रहे यह मर्यादा नहीं। पुरुष ने कहा कि पत्नी का आहार-भार पति पर निर्भर है, तुझे भूखे रखकर मेरा खाना धर्म नहीं। उधर पुत्र ने देख दोनों को कहा—मैं युवा हूँ बिना अन्न के शीघ्र नहीं मर सकता, मेरा भाग दे दो। पुत्र वधू ने भी कहा—मैं आप में से किसी को भी भूखे नहीं देख सकती, किन्तु पिता ने कहा—तुम दोनों को भूखा रहने में इस यौवन काल में क्षति होगी अतः मैं तुम्हारी क्षति को नहीं सह सकता। इतना कहकर अपना भाग अतिथि के अर्पण कर दिया। अतिथि ने उसे खाकर कहा—अभी मैं भूखा हूं। पुनः कापोति वृद्ध की वृद्धा स्त्री ने अपना भाग अतिथि को दे दिया वह उसे भी खा-कर कह उठा—अभी भूखा हूं। पश्चात् पुत्र ने अपना भाग अतिथि के समर्पण कर दिया। वह उसे भी खाकर बोल उठा—अभी और भूखा हूँ। फिर पुत्रवधू ने भी अपना भाग अतिथि के आगे सौंप दिया। उसे खाकर अतिथि ने कहा—हाँ अब तृप्त होगया, आप सब का शुभ हो। पुनः अतिथि के हाथ धुलाए गए, अतिथि के हाथों के धोवन का जल मेरे चलते हुए के आधे अङ्ग पर गिर पड़ा तो मेरा आधा अङ्ग सुनहरा बन गया। यहां तो आप के सत्कृत अतिथियों के हाथों के धोवन जल में डुबकियां भी खाता रहा पर शेष आधा अङ्ग मेरा सुनहरी न बना। अतः आपका अतिथि-सत्कार कापोति ब्राह्मण के अतिथि-सत्कार के सम्मुख कुछ नहीं है।

(महा०, आश्वमेधिक प०, अध्याय ९०)

वानप्रस्थ आश्रम

वानप्रस्थ का आचरण—

दान्तो मैत्रः क्षमायुक्तः केशान् श्मश्रु च धारयन्।
जुह्वन् स्वाध्यायशीलश्च सत्य-धर्म-परायणः ॥

शुचिदेहः सदादक्षो वननित्यः समाहितः।
एवं युक्तो जयेत् स्वर्गं वानप्रस्थो जितेन्द्रियः॥

(महा०, आश्वमेधिक प०, अ० ४६)

दमनशील, सब से मित्र भाव रखने वाला, क्षमाशील, शिर के केशों—जटा और दाढ़ी-मूंछें रखे हुए, अग्नि-होत्र करता हुआ, स्वाध्यायशील, सत्यधर्मपरायण, पवित्र देह वाला, सदा चतुर, वन में नित्य रहने वाला, नगर में न जाने वाला, समाहित, जितेन्द्रिय, इस प्रकार दृढ़ नियम वाला सुख को जीतता है—सुख को प्राप्त होता है।

वानप्रस्थ का वेष और व्यवहार—

चीरवल्कलसंवीतैर्मृगचर्मनिवासिभिः।
कार्या यात्रा यथाकालं यथाधर्मं यथाविधि॥
विमुक्ता दारसंयोगैर्विमुक्ताः सर्व सङ्करैः।
विमुक्ताः सर्वपापैश्च चरन्ति मुनयो वने॥
क्षान्तो दान्तो जितक्रोधो धर्मभूतो विहिंसकः।
धर्मे रतमना नित्यं नरो धर्मेण युज्यते॥

(महा०, अनुशासन प०, अ० १४२। १२, १६, ३२)

बिना सिले वस्त्र और वृक्ष-छाल पहनने वाले, सिंह आदि जङ्गली पशु की खाल को ओढ़ने बिछाने वाले, वानप्रस्थ जनों को समयानुसार धर्म और विधि के साथ यात्रा करनी चाहिए। स्त्री सम्बन्धों से रहित सब पापों से अलग वानप्रस्थ वन में रहते हैं। वानप्रस्थ क्षमाशील, दमनशील, क्रोध पर विजय पाए हुए धर्मरूप होकर हिंसा न करने वाला धर्म में नित्य मन को रत रखने वाला धर्म से युक्त होता है।

वानप्रस्थ का भोजन—

फलमूलानिलभुजां मुनीनां वसतां वने।
वानप्रस्थं द्विजातीनां त्रयाणामुपदिश्यते॥

(महा०, आश्वमेधिक प०, अ० १४। ४२, ४३)

तीनों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों को वानप्रस्थ लेने का उपदेश है, वे वानप्रस्थ जन वन में फल मूल और वन के वायु-जल आदि का ही सेवन करें।

राजाओं का वानप्रस्थ लेना—

राजर्षीणां हि सर्वेषामन्ते वनमाश्रमः॥

(महा०, आश्रमवासि पं०, अ० ४। ५)

राज्य कार्य से निवृत्त होकर अन्त में राजा का आश्रम वन है।

ययाति राजा ने वानप्रस्थ ग्रहण किया—

पुरुं राज्येऽभिषिच्याथ सदारः प्राविशद् वनम्।

(महा०, शान्तिपर्व०, राजधर्म० अ० २९। ६८)

पुरु को राज्य में अभिषिक्त कर ययाति राजा स्त्री सहित वन में चले गए।

शतयूप राजा आदि ने वानप्रस्थ धारण किया—

आससादाथ राजर्षिं शतयूपं मनीषिणम्।
स हि राजा महानासीत् केकयेषु परन्तप॥
स्वपुत्रं मनुजैश्वर्ये निवेश्य वनमाविशत्।

(महा०, आश्रमवासि प०, अ० १९। ९० १०)

शतयूप मनीषी राजर्षि के पास गया, जो कि शतयूप राजा केकय देश में महान् राजा था। वह अपने पुत्र को नरेशपद पर बिठाकर वन में चला गया था। एवं भगदत्त के पिता शैलालय, पृषध्र, मान्धाता का पुत्र पुरुकुत्स, शशलोमा भी वानप्रस्थ बने।

धृतराष्ट्र की वनस्थ होने की इच्छा—

अनुज्ञातस्त्वया वीर संश्रयेयं वनान्यहम्।
चीरवल्कलभृद् राजन् गान्धार्या सहितोऽनया ॥
तवाशिषः प्रयुञ्जानो भविष्यामि वनेचरः।
उचितो नः कुले तात सर्वेषां भरतर्षभ ॥
पुत्रेष्वैश्वर्यमाधाय वयसोऽन्ते वनं नृप ॥

(महा०, आश्रमवासि प०, अ० ३। ३६, ३८)

हे वीर युधिष्ठिर! मुझे अनुमति दे, मैं बिना सिले वस्त्र और वृक्षछाल शरीर पर धारण कर गान्धारी सहित वन में जाऊँ, तेरे लिए आशीर्वाद करता हुआ वनवासी होऊंगा। हे प्रिय! हमारे कुल में सबका यह उचित कर्तव्य है कि आयु के अन्तिम भाग में पुत्रों को राज्य सौंप कर वन में चले जाना।

धृतराष्ट्र ने वानप्रस्थ धारण किया—

अग्निहोत्रं पुरस्कृत्य वल्कलाजिनसंवृतः।
वधूजनवृतो राजा निर्ययौ भवनात् ततः ॥

(महा०, आश्रमवासि प०, अ० १५। ३)

धृतराष्ट्र राजा अग्निहोत्र को आगे कर वल्कल, वृक्ष छाल, व्याघ्र-चर्म को धारणकर बन्धुओं से घिरा हुआ राजभवन से निकल पड़ा।

कुन्ती का वानप्रस्थ धारण करना—

श्वश्रूश्वशुरयोः पादान् शुश्रूषन्ती वने।
गान्धारी सहिता वत्स्ये तापसी मलपङ्किनी ॥

(महा०, आश्रमवासि प०, अ० १८।११)

वन में सास श्वसुर के चरणों की सेवा करती हुई गान्धारी के साथ तापसी शोभा भूषारहित मैं भी बसूँगी ॥

धृतराष्ट्र सब को साथ लेकर वन चले गये—

ययौ राजा महाप्राज्ञो धृतराष्ट्रो वनं तदा।

(महा० आश्रमवासि प० अ० १८। १२)

धृतराष्ट्र सब को साथ लेकर वन चले गये।

धृतराष्ट्र का वन में वानप्रस्थ जीवन—

विदुरः सञ्जयश्चैव राज्ञः शय्यां कुशै स्ततः।
चक्रतुः कुरुवीरस्य गान्धार्याश्चाविदूरतः॥

(महा०, आश्रमवासि प०, अ० १८। १६, २०)

विदुर और सञ्जय ने धृतराष्ट्र राजा का और गान्धारी का बिस्तर कुशाओं से बनाया॥

युधिष्ठिर आदि पांचों पाण्डवों ने वानप्रस्थ धारण किया—

ततः स राजा कौरव्यो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः।
उत्सृज्याभरणान्यङ्गाज्जग्रहे वल्कलान्युत।
भीमार्जुनयमाश्चैव द्रौपदी च यशस्विनी।
तथैव जगृहुः सर्वे वल्कलानि नराधिप!॥
विधिवत् कारयित्वेष्टिं नैष्ठिकीं भरतर्षभ!।

(महा० महाप्रस्थानिक प० अ० १। २०,२१)

धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अङ्गों से भूषण आदि राज्यवेष उतार कर वल्कल धारण किये, एवं भीम, अर्जुन, नकुल,सहदेव तथा द्रौपदी ने भी वल्कल धारण किये और विधिवत् इष्टि करके वनप्रस्थान किया॥

संन्यास आश्रम

चतुर्थाश्रम-रूप संन्यास का विधान—

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः।

(महा०, शांति प०, राजधर्म० १५। १८)

ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी, और भिक्षुक ये चार आश्रमी हैं।

गृहस्थो ब्रह्मचारी वा वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः ।

(महा०, शांति प०, मोक्ष०, अ० ३१४ । १)

यहाँ भी चारों आश्रमी ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, और भिक्षुक का विधान है ॥

गृहेषु वनवासेषु गुरुवासेषु भिक्षुषु ।

(महा० आश्वमेधिक प० अ० ३३ । ५)

गुरुवासी—ब्रह्मचारी, गृहवासी—गृहस्थ, वनवासी—वानप्रस्थ, भिक्षुक ।

गृहस्थो ब्रह्मचारी वा वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः ।
चत्वारः आश्रमाः प्रोक्ताः सर्वे गार्हस्थ्यमूलकाः ॥

(महा०, आश्वमेधिक प०, अ० १५ । १३)

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक चार आश्रम कहे हैं जो सब गृहस्थ-मूलक हैं ॥

दशान्यानि सहस्राणि येषामन्नं सुसंस्कृतम् ।
ह्रियते रुक्मपात्रीभिर्यतीनामूर्ध्वरेतसाम् ॥

(महा० वनप० द्रौपदीसत्यभामा० अ० २३३ । ४४)

पका हुआ भोजन यहाँ सोने के पात्रों में यतियों-संन्यासियों को दिए जाने के वर्णन से यति-भिक्षुक-सन्यासी का वर्णन है ॥

संन्यास में वेष आदि लिङ्ग—

ततः काषायवसना दमयन्ती महाराज बाहुकं वाक्यमब्रीत् ॥

(महा०, वन प०, नलोपा०, अ० ४४ । ९)

दमयन्ती ने साधु वेष धारण किया तो काषायवस्त्र पहने थे । इससे यह स्पष्ट होता है कि साधु स्थिति में वस्त्र काषायरंग के भगवे व गेरुए वस्त्र होते हैं ।

शिरसो मुण्डनाद्वापि न स्थानं कुटिकासनात् ।

(महा०, वन प०, मार्कण्डेय०, अ० २०० । ५

संन्यासी शिर का मुण्डन करावे, कुटीनिवास न रखकर रहे।

कमण्डलुश्चाप्यनु तं महर्षिगणसेवितः।
तस्य दक्षिणतो भाति दण्डो गच्छन् श्रियावृतः॥
(महा०, वन प०, मार्कण्डेय०, अ० २३१। ४२)

संन्यासी के लिए महर्षि-गण से सेवित कमण्डलु पात्र और जाते हुए दक्षिण हाथ में दण्ड सुशोभित होता है।

कृत्वाऽग्निहोत्रं स्वशरीरसंस्थं शारीरमग्निं स्वमुखे जुहोति।
विप्रस्तु भैक्ष्योपगतैर्हविर्भिश्चिताग्नीनां स व्रजते हि शोकम्॥
(महा०, शांति प०, मोक्ष०, अ० १५२। ५)

अपने शरीरसंस्थ अग्निहोत्र शरीर की अग्नि को करके अपने मुख में होमता है, गृहस्थों के भिक्षान्न भोजनों की हवियों से जीवन निर्वाह करता हुआ संन्यासी संसार में विचरता है।

संन्यासी के कर्तव्य—

परिव्राड् योगयुक्तश्च॥
(महा०, उद्योग प०, प्रजागार प०, अ० ३३। ६१)

संन्यासी योगयुक्त होना चाहिए।

अनग्निरनिकेतश्च ग्राममन्नार्थमाश्रयेत्।
अश्वस्तनविधातास्यान्मुनिर्भावसमाहितः॥ ६॥
लघ्वाशी नियताहारः सकृदन्ननिषेविता।
कपालं वृक्षमूलानि कुचैलमसहायता॥ ७॥
अहेरिव गणाद्भीतः सौहित्यान्नरकादिव।
कुणपादिव च स्त्रीभ्यस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥ १३॥
न क्रुध्येन्न प्रहृष्येत मानितोऽमानितश्च यः।
सर्वभूतेष्वभयदस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥ १४॥
नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्।

कालमेव प्रतीक्षेत निदेशं भृतको यथा ॥ १५ ॥

दानं हि भूताभयदक्षिणायाः सर्वाणि दानान्यधितिष्ठति ॥ २६॥

(महा०, शांतिप०, मोक्ष० अ० २४५)

संन्यासी अग्नि प्रयोग (हवन भोजनपाक आदि) से रहित, नगर में अन्नार्थ—भिक्षार्थ जावे। आगामी कल के लिए अन्नभिक्षा का संग्रह न करे अर्थात् वर्तमान समय के लिए अन्न आदि का ग्रहण करने वाला हो, संग्रही न हो। मुनिभाव, शान्त भाव में एकाग्र रहे अर्थात् अचञ्चल अल्पभोजी, निममित मात्रा में नियमित समय में खानेवाला तथा नियमित वस्तुओं को खाने वाला हो, सर्वभक्षी नहीं, एक बार भोजन करने वाला वारबार खाने वाला नहीं, कपाल, खप्पर, कमण्डलु, वृक्षमूलनिवास भूमि के रंग के मटमैले काषाय गेरुए वस्त्र का सेवन करनेवाला, किसी पर निर्भर न रहने वाला, जनसमूह में रहने से सर्प भय की भाँति भय करना, उत्तमोत्तम वस्त्रों सुखों से भय करना, नरक महा दुःख की भाँति, स्त्रियों से खटमलों की भाँति भय करना, अपमान से क्रोध न करे, न मान से प्रहर्षित हो—फूले। सब प्राणियों को अभय देने वाला हो, मरण की निन्दा न करे न जीने की प्रशंसा। काल की प्रतीक्षा करे जैसे नौकर स्वामी की आज्ञा की प्रतीक्षा करता है, प्राणियों को अभयदक्षिणा का दान समस्त दानों के ऊपर रहता है, अतः संन्यासी को सब प्राणियों के लिए अभय दान देना चाहिये। ऐसा आचरण करने वाले को ब्राह्मण—ब्रह्म का जानने वाला संन्यासी कहते हैं॥

प्रसार्येह यथाङ्गानि कूर्मः संहरते पुनः।
तथेन्द्रियाणि मनसा संयन्तव्यानि भिक्षुणा ॥
तमःपरिगतं वेश्म यथा दीपेन दृश्यते।
तथा बुद्धिप्रदीपेन शक्य आत्मा निरीक्षितुम् ॥

(महा०, शांति प०, मोक्ष०, अ० ३२६ । ३९, ४०)

जैसे कछुआ अङ्गों को फैलाकर पुनः संकुचित करता—समेट लेता है, इसी प्रकार संन्यासी को अपनी इन्द्रियाँ मन से संयत करनी चाहिये। अन्धकार से पूर्ण घर जैसे दीपक से दीख जाता है उसी प्रकार बुद्धि दीपक से आत्मा (परमात्मा) दीख सकता है।

जनक आदि राजाओं का संन्यास ग्रहण—

जनक का संन्यास—

विदेह राज्यं च तदा प्रतिष्ठाप्य सुतस्य वै।
यतिधर्ममुपासंश्चाप्यवसन् मिथिलाधिपः॥

(महा०, शांति प०, मोक्ष०, अ० ३१८। ९७)

मिथिलाधिप जनक राजा ने विदेह देश—मिथिलादेश का राज्य पुत्र को सौंपकर यतिधर्म—संन्यासधर्म संन्यासाश्रम का पालन किया।

पञ्चशिख संन्यासी तथा जनक उनके शिष्य—

अत्राप्युदाहरन्तीमितिहासं पुरातनम्।
भिक्षोः पंचशिखश्चेह संवादं जनकस्य च॥

(महा०, शांति प०, मोक्ष०, अ० ३१९। ३)

इस विषय में पञ्चशिख संन्यासी और जनक का पुरातन इतिहास उदाहरण रूप में है॥

अम्बा की संन्यास ग्रहण की इच्छा, स्त्रीसंन्यास—

प्राव्राज्यमहमिच्छामि तपस्तप्स्यामि सुदुश्चरम्।

(महा०, उद्योग, प० अम्बो०, अ० १७६। ४१)

अम्बिका ने कहा है कि मैं संन्यास चाहती हूँ। कठिन तप तपूँगी।

सुलभा संन्यासिनी—स्त्रीसंन्यास—

अथ धर्मयुगे तस्मिन् योगधर्ममनुष्ठिता।
महीमनुचचारैका सुलभा नाम भिक्षुकी॥

(महा०, शांति प०, मोक्ष०, अ० ३२०। ७)

उस धर्मयुग में योगाभ्यास में अभ्यस्त एक सुलभा संन्यासिनी पृथिवी पर विचर रही थी ॥

क्षत्रिया (क्षत्रवंशजा) स्त्री सुलभा संन्यासिनी हुई—

नास्मि वर्णोत्तमा जात्या न वैश्या नावरा तथा ।
तव राजन् ! सवर्णाऽस्मि शुद्धयोनिरविप्लुता ॥
प्रधानो नाम राजर्षिर्व्यक्तं ते श्रोत्रमागतः ।
कुले तस्य स मुत्पन्नां सुलभां नाम विद्धि माम् ॥

(महा०, शांति प०, अ० ३२० । ८०, ८१)

हे जनक राजन् ! मैं ब्राह्मणवर्णा नहीं, वैश्या नहीं, न शूद्रा हूँ, तेरे वर्णवाली क्षत्रिया हूँ और पुरुष सम्पर्क से रहित हूँ—ब्रह्मचारिणी हूँ । राजवंशीय महात्मा प्रधान नाम नरेन्द्र को आपने सुना होगा उसके कुल में उत्पन्न हुई मुझ सुलभा को तू जान ।

———

तृतीय पार्श्व

वर्णव्यवस्था-संस्थान

चार वर्ण और उनके सामान्य कर्म—

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा ये चाश्रितास्तपोदान—
धर्माग्निना शुद्धास्ते स्वर्गं यान्ति भारत ! ॥

(महा०, आश्रमेधिक प०, अ० ११ । ३७)

जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तप दान धर्म अग्निहोत्र से शुद्ध होते हैं वे स्वर्ग अर्थात् सुखपूर्ण योनि या जन्म को प्राप्त होते हैं।

विज्ञप्ति—शूद्र को भी तप और अग्निहोत्र का अधिकार यहां कहा है।

कर्मानुसार वर्ण—

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम् ॥

(महा०, शान्ति प०, मोक्ष०, अ० १८० । १०)

वर्णों में कोई भेद नहीं सब ही ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण समान हैं, ब्रह्म से प्रथम उत्पन्न हुए पश्चात् कर्मों से अलग अलग वर्ण भाव को प्राप्त हुए।

ब्राह्मण चारों वर्णों की स्त्रियों से विवाह करने पर सन्तान ब्राह्मण—

चतस्रो विहिता भार्या ब्राह्मणस्य पितामह !।
ब्राह्मणी क्षत्रिया वैश्या शूद्रा च रतिमिच्छता ॥
त्रिषु वर्णेषु जातो हि ब्राह्मणाद् ब्राह्मणो भवेत्।

(महा०, अनुशासन प०, अ० ४७ । ४, ५)

ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या, शूद्रा ये चार स्त्रियां ब्राह्मण की होती हैं। इनमें से किसी के भी साथ विवाह कर सकता है और क्षत्रिया आदि तीनों वर्णों की भार्या से उत्पन्न सन्तान ब्राह्मण ही होती है।

वर्ण परिवर्तन—ऊंचे वर्ण से नीचे और नीचे वर्ण से ऊपर जाना—

विप्रो भवति धर्मात्मा क्षत्रियः स्वेन कर्मणा।
शूद्रोऽप्यागमसम्पन्नो द्विजो भवति संस्कृतः॥
ब्राह्मणो वाऽप्यसद्वृत्तः सर्वसङ्करभोजनः।
ब्राह्मण्यं स समुत्सृज्य शूद्रो भवति तादृशः॥

(महा०, अनुशासन प०, अ० १४३)

धर्मात्मा क्षत्रिय भी कर्म से ब्राह्मण हो जाता है, शूद्र भी वेद पढ़ा हुआ और वैदिक कर्मों से युक्त हुआ ब्राह्मण बन जाता है। और ब्राह्मण भी दुष्कर्मों से सर्वभक्षी होने से ब्राह्मणत्व को छोड़ कर शूद्र हो जाता है।

शक आदि क्षत्रिय से वृषल (कसाई, मांसभोजी—म्लेच्छ) होगए—

शका यवनकम्बोजास्तास्ता क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं परिगता ब्राह्मणानामदर्शनात्॥ २१॥
द्राविडाश्च कलिङ्गाश्च पुलिन्दाश्चाप्युशीनराः।
कोलसर्पा महिषकास्तास्ताः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं परिगता ब्राह्मणानामदर्शनात्॥ २२॥

(महा०, अनुशासन प०, अ० ३३)

शक, यवन, कम्बोज ये क्षत्रिय वंशज थे। ब्राह्मणों के अदर्शन—असत्सङ्ग से वृषल—हिंसावृत्ति म्लेच्छ बन गए। तथा भारतान्तर्गत द्राविड़, कलिङ्ग, पुलिन्द, उशीनर, कोल—सर्प, महिषक क्षत्रिय वंशज थे वे भी ब्राह्मणों के अदर्शन—असत्सङ्ग, से वृषल—हिंसावृत्ति म्लेच्छ बन गए।

तथा—

मेकला द्राविडा लाटा: पौण्ड्रा: काण्वशिरास्तथा।
शौण्डिका दरदा दार्वाश्चौरा: शबर:बंरा: ॥ १७ ॥
किराता यवनाश्चैव तास्ता: क्षत्रियजातय:।
वृषलत्वमनुप्राप्ता ब्राह्मणानामदर्शनात् ॥ १८ ॥

(महा०, अनुशासन प०, अ० ३५)

मेकल, द्राविड, लाट, पौण्ड्र, काण्वशिर, शौण्डिक, दरद, दार्व, चौर, शबर, बर्वर, किरात, यवन, ये क्षत्रिय वंशज थे परन्तु ब्राह्मणों के अदर्शन—असत्सङ्ग से वृषल—हिंसा-वृत्ति म्लेच्छ बन गए।

और भी—

प्रजा वृषलतां प्राप्ता ब्राह्मणानामदर्शनात्।
एवं ते द्रेविडे ऽऽभीरा: पुण्ड्राश्च शबरै सह॥

(महा०, आश्रमेधिक प०, अ० २९ । १५)

द्रविड़, आभीर, पुण्ड्र, शबर ये लोग ब्राह्मणों के अदर्शन असत्सङ्ग, से वृषल-हिंसावृत्ति म्लेच्छ बन गए।

विश्वामित्र, सिन्धुद्वीप, देवापि क्षत्रिय से ब्राह्मण बने—

ततो ब्राह्मणतां यातो विश्वमित्रो महातपा:।
क्षत्रिय: सोऽप्यथ तथा ब्रह्मवंशस्य कारक:॥

(महा०, अनुशासन प०, अ० ४)

विश्वामित्र क्षत्रिय से ब्राह्मण होगए और ब्राह्मण वंश के चलाने वाले बने।

ब्राह्मण्यं लब्धवांस्तत्र विश्वामित्रो महामुनि:।
सिन्धुद्वीपश्च राजर्षिर्देवापिश्च महातपा:॥
ब्राह्मण्यं लब्धवान् यत्र विश्वामित्रस्तथा मुनि:।

(महा०, शल्य प०, गदाप०, अ० ३८ । ३६, ३७)

विश्वामित्र ने क्षत्रियत्व से ब्राह्मणत्व को प्राप्त किया, एवं सिन्धुद्वीप और देवापि क्षत्रिय तपस्वियों ने भी ब्राह्मणत्व को प्राप्त किया।

मतङ्ग, चण्डाल से ब्राह्मण बने—

स्थाने मतङ्गो ब्राह्मण्यं चालभद् भरतर्षभ ।
चण्डालयोनौ जातो हि कथं ब्राह्मण्यमवाप्तवान् ।।

(महा०, अनुशासन प०, अ० ३ । १९)

चण्डाल योनि में उत्पन्न मतङ्ग ब्राह्मण बन गए।

पैजवन शूद्र ऋषि बन गए—

शूद्रः पैजवनो नाम सहस्राणां शतं ददौ ।
ऐन्द्राग्नेन विधानेन दक्षिणामिति नः श्रुतम् ॥

(महा० शान्ति प० राज ध० अ० ६० । ३९)

पैजवन शूद्र ने सौ सहस्र गौएं दान दीं। इन्द्राग्नी देवता वाले सूक्त से वह उन ऋगवेद के सूक्तों का ऋषि होगया।

शुनक का पुत्र वीतहव्य क्षत्रिय वंशज शौनक ऋषि ब्राह्मण बना—

शुनको नाम विप्रर्षिर्यस्य पुत्रोऽथ शौनकः ।
एवं विप्रत्वमगमद् वीतहव्यो नराधिपः ॥

(महा० अनुशासन प० अ० ३० । ६५, ६६)

ब्राह्मबल क्षात्रबल से ऊंचा है—

धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम् ।
बलाबलं निनिश्चित्य तप एवं परं बलम् ॥

(महा० आदि प० चैत्ररथ प० अ० १७७ । ४५)

ब्राह्म तेज रूप बल के सम्मुख क्षात्र बल को धिक्कार है, बल अबल का विचार करने से ब्राह्म तप परम बल है।

मूल गोत्र चार—

मूलगोत्राणि चत्वारि समुत्पन्नानि पार्थिव ! ।

अङ्गिराः कश्यपश्चैव वसिष्ठो भृगुरेव च ॥
कर्मतोऽन्यानि गोत्राणि समुत्पन्नानि पार्थिव ।
नामधेयानि तपसा तानि च ग्रहणं सताम् ॥
(महा०, शान्ति प०, मोक्ष०, अ० २९६ । १७-१८)

मूलगोत्र चार उत्पन्न हुए हैं जो कि अङ्गिरा, कश्यप, वसिष्ठ और भृगु हैं। अन्य गोत्र कर्म से हैं। सत्पुरुषों के तप से वे नाम ग्रहण किए जाते हैं।

वंशनाश के कारण—

अनिज्यया कुविवाहै र्वेदस्योत्सादनेन च ।
कुलान्यकुलतां यान्ति धर्मस्यातिक्रमणेन च ॥
देवद्रव्यविनाशेन ब्रह्मस्वहरणेन च ।
कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमणेन च ॥
ब्राह्मणानां परिभवात् परिवादाश्च भारत ! ।
कुलान्यकुलतां यान्ति न्यासापहरणेन च ॥
कुलानि समुपेतानि गोभिः पुरुषतोऽर्थतः ।
कुलसंख्यां न गच्छन्ति यानि हीनानि वृत्ततः ॥
वृत्ततस्त्वविहीनानि कुलान्यल्पधनान्यपि ।
कुलसंख्यां न गच्छन्ति कर्षन्ति च महद् यशः ॥
वृत्तं यत्नेन संरक्षेत् वृत्तमेति च याति च ।
अक्षीणो वित्तात् क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ॥
गोभिः पशुभिरश्वैश्च कृष्या च सुसमृद्धया ।
कुलानि न प्ररोहन्ति यानि हीनानि वृत्ततः ।
(महा०, उद्योग प०, प्रजागार, अ०)

यज्ञ न करने, कुविवाह, वेद के त्याग से और धर्म के उल्लंघन से कुल अकुलता को प्राप्त हो जाते हैं। विद्वानों, पूजनीय स्थानों के

धन वस्तु नाश से, ब्राह्मणों के धन हरण से और ब्राह्मणों की अवज्ञा से कुल अकुलता को प्राप्त हो जाते हैं।

ब्राह्मणों पर दवाव डालने से और उनकी निन्दा से तथा धरोहर के हरण कर लेने से कुल अकुलता को प्राप्त हो जाते हैं। गौओं, पुरुषों धन से सम्पन्न कुल, आचार से हीन हुए कुल अकुलता, को प्राप्त हो जाते हैं। थोड़े धन वाले भी कुल वृत्त से हीन न हुए अकुलगणना में नहीं आते किन्तु महान् यश को प्राप्त होते हैं।

वृत्त की यत्न से रक्षा करे वृत्त अर्थात् धन आता और जाता है। धन से क्षीण जन क्षीण नहीं किन्तु आचार से क्षीण हुआ नष्ट ही है।

गौओं, पशुओं, घोड़ों खेती से समृद्धि से युक्त हुए भी आचार हीन कुल उभरते नहीं हैं।

———

चतुर्थ पार्श्व

वेद-विद्यादिसंस्थान

वेद चार हैं—

साङ्गोपनिषदान् वेदांश्चतुराख्यानपञ्चमान् ।

(महा०, वन प०, अर्जुनाभिया०, अ० ४५ । ८)

शिक्षा व्याकरणादि अङ्गों और उपनिषदों सहित चारों वेदों और आख्यान को पढ़े हुए विद्वान् ।

चारों वेदों के नाम—

यजुषामृचां साम्नां च गद्यानां च सर्वशः ।
आसीदुच्चार्यमाणानां निःस्वनो हृदयङ्गमः ॥

(महा०, वन प०, अर्जुनाभिया० अ० २६ । ३)

उच्चारण किए जाते हुए यजुर्वेद के मन्त्रों, ऋग्वेद के मन्त्रों, सामवेद के मन्त्रों और गद्य अर्थात् अथर्ववेद के मन्त्रों का ध्वनिनाद हृदय में बैठता था ।

यजुऋक्सामत्रिजुंष्टमथर्वाङ्गिरसैस्तथा ।

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ४०)

यजुः, ऋक्, साम और अथर्वाङ्गिरस अर्थात् अथर्ववेद से सम्पन्न ।

ऋग्वेदः सामवेदश्च यजुर्वेदश्च पाण्डव ।
अथर्ववेदश्च तथा सर्वशास्त्राणि च ॥

(महा० सभा प० लोकपाल समाख्यान प० अ० ११ । ३२)

ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद एवं सब शास्त्र ।

वेद अनादि हैं और वैदिक ऋषि भी अनादि हैं—

अनादिनिधना विद्या वागुक्ता या स्वयम्भुवा।
ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः॥
(महा० शान्ति प० मोक्ष अ० २३२। २५)

स्वयम्भू परमेश्वर ने वेद वाणी अनादि और अनन्त प्रकट की। ऋषियों के नाम और उनकी वेदों में दृष्टियां भी स्वयम्भू ने प्रकट की।

वेदों का प्रकाश सृष्टि के आरम्भ में और वेदों से नामों तथा कार्यों का विधान।

नानारूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम्।
वेदशब्देभ्य एवादौ निर्मिमीते स ईश्वरः॥
नामधेयानि चर्षीणां याश्च वेदेषु दृष्टयः।
शर्वर्यन्ते सुजातानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः॥
(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० २३२। २६)

ईश्वर ने वस्तुओं के नाम और कर्म वेद के शब्दों से निमार्ण किए। और ऋषियों के नाम तथा उनकी वेदों में दृष्टियां भी प्रलय के अन्त अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में उनके लिये विधान कीं।

वेद अर्थ सहित पढ़ना श्रेयस्कर है—

यो वेदे च शास्त्रे च ग्रन्थधारणतत्परः।
न च ग्रन्थार्थतत्त्वज्ञस्तस्य-तद्धारणं वृथा॥
भारं स वहते तस्य ग्रन्थस्यार्थं न वेत्ति यः।
यस्तु ग्रन्थार्थतत्त्वज्ञो नास्य ग्रन्थागमो वृथा॥
(महा० शान्ति प० मोक्ष अ० ३०५। १३, १४)

जो मनुष्य वेद और शास्त्र के सम्बन्ध में पाठ कण्ठस्थ करने में ही तत्पर है वह ग्रन्थ के तत्त्व को नहीं जातना उसका कण्ठस्थ पाठ

व्यर्थ है जो अर्थ नहीं जानता वह तो उसके भार को ही उठाता है और जो ग्रन्थ के अर्थ तत्त्व को जानता है उसका ग्रन्थ ज्ञान व्यर्थ नहीं है।

चारों वर्णों को वेद पढ़ाना चाहिए—

श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः।
वेदस्याध्ययनं हीदं तच्च कार्यं महत्स्मृतम्॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३२७। ४८)

चारों वर्णों को वेद पढ़ावे, पढ़ाते समय ब्राह्मण को सब से आगे की पंक्ति में बिठावे। यह वेद का अध्ययन और अध्यापन कार्य ऊंचा माना गया है।

वेद में सुरापान मांस भक्षण आदि का विधान नहीं है—

सुरा मत्स्या मधुमांसमासवं कृसरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्त्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम्॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० २६५। ९)

मद्य, मछली, मधु-मद्य, मांस, आसव-महो मद्य, मांसौदन, धूर्तजनों ने चलाया है। ये वेदों में नहीं कहे हैं।

विद्या के चार प्रकार—

त्रयी चान्वीक्षिकी चैव वार्ता च भरतर्षभ!।
दण्डनीतिश्च विपुला विद्यास्तत्र निदर्शिताः॥

(महा० शान्ति प० राजधर्म० अ० ५९। ३३)

त्रयी विद्या ऋक्-युजः सामरूपी वेद, आन्वीक्षिकी-दर्शनविद्या, वार्ता—देशदेशान्तर भूगोल खगोल, दण्डनीति राजनीति ये चार विशाल विद्याएँ प्रदर्शित की हैं।

विद्या प्रचार में राजनीति का आश्रय—

न विद्यां प्राप्नुयात् कश्चिद् यदि दण्डो न पालयेत्।

(महा० शान्ति प० राजधर्म अ० १५। ४०)

यदि दण्ड विधान न हो तो कोई विद्या को प्राप्त न करें, अर्थात् अनिवार्य विद्या सार्वजनिक सामान्य विद्या सब के लिए होनी चाहिए। इस विषय में राजनियम होना चाहिये जो न पढ़े वह दण्डनीय हो। हाँ विशेष विशेष विद्याएं योग्य व्यक्ति ही पढ़ें।

दर्शन विद्या के अधिकारी—

पृथिवीमिमां यद्यपि रत्नपूर्णां दद्यान्नदेयं त्विदमसंयताय।
जितेन्द्रियायैतदसंशयं ते भवेत् प्रदेयं परमं नरेन्द्र!॥
(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३०८। ३७)

रत्नपूर्ण पृथिवी भी क्यों न दे परन्तु इस दर्शन विद्या को अयत्नशील आलस्यपूर्ण मनुष्य को न दे। हाँ जितेन्द्रिय संयमी जन को देना चाहिए।

ऊंची विद्या प्रदान में शिष्यों की परीक्षा—

नापरीक्षितचारित्रे विद्या देया कथञ्चन।
यथा हि कनकं शुद्धं तापच्छेद निकर्षणैः—
परीक्षेत तथा शिष्यानीक्षेत्कुलगुणादिभिः॥
(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३१७)

जिसके चरित्र का ज्ञान न हो उसको कभी विद्या न देना चाहिये। जैसे शुद्ध सोने की परीक्षा तपाने काटने घिसने से करते हैं ऐसे शिष्यों की परीक्षा कुल और गुण आदि से करनी चाहिये।

शिक्षा—

नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः।
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम्॥
निवृत्तिः कर्मणः पापात् सततं पुण्यशीलता॥
सद्वृत्तिः समुदाचारः श्रेय एतदनुत्तमम्।

सर्वोपायात्तु कामस्य क्रोधस्य च विनिग्रहः ।
कार्यः श्रेयोर्थिना तौ हि श्रेयोघातार्थमुद्यतौ ॥
(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३२९ । ६—१०)

विद्या के समान नेत्र नहीं, सत्य जैसा तप नहीं, राग के सदृश दुख नहीं, पाप कर्म से अलग रहना, निरन्तर पुण्यशील रहना, सदा व्यवहार का आचरण करना सर्वोत्तम कल्याण साधक है। कल्याण के इच्छुक जन को कामवासना और क्रोध का समस्त प्रयत्न से वश करना चाहिये, क्योंकि दोनों कल्याण के घातक हैं ।

कलाकौशल—

छाता—

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि ।
(महा० अश्वमेधिक प० अ० ६४ । १)

शिर पर भूरे रंग वाले आतपत्र-छाते को धारण किए हुए ।

गर्ग ऋषि ६४ कलाओं को जानते थे—

चतुषः ष्ट्यंगमददात्कलाज्ञानं ममाद्भुतम् ।
सरस्वत्यास्तटे तुष्टो मनोयज्ञेन पाण्डव ! ॥
(महा० अनुशासन प० अ० १८ । ३८)

हे पाण्डव ! सरस्वती नदी के तट पर मनोयज्ञ से प्रसन्न हुए गर्ग ने मुझे चौसठ कलाओं को सिखलाया ।

सोने चांदी का पानी पात्र पर चढ़ाना या सोने चाँदी के पात्र साँचे में ढालकर बनाना—

सौवर्णं चापि राजतं यथा भाण्डं निषिच्यते ।
तथा निषिच्यते जन्तुः पूर्वकर्मवशानुगः ॥
(महा० शान्ति प० अ० २९० । ११)

जैसा पात्र पर सोने या चाँदी का पानी फेरने से सुनहेरा या रूपहेला हो जाता है वैसे ही प्राणी पूर्वकर्मों के वश हुआ वैसा बन जाता है। अथवा—

जैसे सोने या चाँदी का पात्र साँचे में जाता है वैसे प्राणी भी पूर्वकर्मानुसार ढल जाता है—बन जाता है।

गृह निर्माणकला (मकानकला)—

ब्राह्मणस्थपतिभ्यां च निर्मितं यन्निवेशनम्।
तदावसेत् सदा प्राज्ञो भवार्थी मनुजेश्वर! ॥

(महा०, अनुशासन प०, अ० १०४। ११८)

हे राजन्! ब्राह्मण और स्थपति अर्थात् इंजीनियर और मिस्त्री के द्वारा जो घर बना हो उसमें ऐश्वर्य या अभ्युदय का चाहने वाला बुद्धिमान् बसे।

बहुत बड़ी बड़ी गाड़ी—

रथैस्तैर्नगरप्रख्यैः पताकाध्वजशोभितैः।

(महा० शान्ति० राजध० अ० ४८। २)

पताका ध्वज से सुशोभित नगर समान बड़े रथों से यात्रा।

विमान से देशाटन—

स देशान् विविधान् पश्यंश्चीनहूणनिषेवितान्।
आर्यावर्तमिमं देशमाजगाम महामुनिः॥
पितुर्वचनमाज्ञाय तमेवार्थं विचिन्तियन्।
अध्वानं सोऽतिचक्राम खचरः खेचरन्निव॥

(महा० शान्ति० मोक्ष० अ० ३२५। १५,१६)

व्यास के पुत्र शुकदेवजी विमान द्वारा चीन हूण जातियों से सेवित विविध देशों को देखते हुए इस आर्यावर्त देश में आये। पिता व्यास के वचन को स्वीकार कर उसी अभिप्राय को ध्यान में रख मार्ग को पूरा किया, आकाश में उड़ते हुए पक्षी की भाँति वे चलते चले आए।

विज्ञप्ति—यहाँ "खचर: खेचरन्निव" आकाश में उड़ते हुए पक्षी की भाँति उपमा से शुकदेवजी का विमान द्वारा भिन्न भिन्न देशों के ऊपर से उड़ते हुए आना सिद्ध है।

देवविमान—

एते हि देवा वसवो विमानान्यास्थाय
सर्वे ज्वलिताग्निकल्पा: ॥

(महा० शान्ति० प० राजध० अ० ५१। १५)

ये वसु नामक देव विमानों में सवार होकर सब ज्वलित अग्नि के समान हैं।

विज्ञप्ति—गत वर्ष १९५१ ई० में उड़न तश्तरियों की चर्चा समाचार पत्रों में प्रकाशित होती रही। वे उडन तश्तरियाँ प्रकाशमान् थीं जैसा कि यहाँ कहा है वे देवविमान में जो एक लोक से दूसरे लोक में जानेवाले होते हैं, इन्हें खेटयान भी कहा जाता है, खेट ग्रहनक्षत्र को भी कहते हैं। एक लोक से दूसरे लोक में जानेवाले ग्रह नक्षत्रों की भाँति जो विमान उड़ते दिखलाई पड़ते हैं वे खेटयान कहलाते हैं जैसे विशेषकर आचार्य ने कहा है—

देशाद्देशान्तरं तद्वद् द्वीपाद् द्वीपान्तरं तथा।
लोकाल्लोकान्तरं चापि योऽम्बरे गन्तुमर्हति ॥
स विमान इति प्रोक्त: खेटशास्त्र विदांवरै: ॥

एक देश से दूसरे देश को, उसी प्रकार एक द्वीप से दूसरे द्वीप को और एक लोक से दूसरे लोक को भी जो आकाश में जा सकता है। वह खेट शास्त्र के जानने वालों के द्वारा विमान कहलाता है। अस्तु ! महर्षि चक्रामणि ने "खेटयान प्रदीपिका" पुस्तक भी लिखी थी।

पञ्चम पार्श्व

सामाजिक संस्थान

सभा का साफल्य और असाफल्य—

विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण सभां यत्रोपपद्यते ।
न चास्य शल्यं कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ।।
अर्धं हरति वै श्रेष्ठः पादो भवति कर्तृषु ।
पादश्चैव सभासत्सु ये न निन्दन्ति निन्दितम् ।।
अनेना भवति श्रेष्ठो मुच्यन्ते न सभासदः ।
एनो गच्छति कर्तारं निन्दार्हो यत्र निन्द्यते ।।

(महा० सभाप० द्यूतप० अ० ६८ । ७७—७९)

जिस सभा में अधर्म अन्याय से धर्म न्याय को दबाया जावे, दोष को दूर न किया जावे तो वहाँ सभासद् मर गए जानो । वह पाप या अपराध आधा सभा के प्रधान के शिर पर, चौथाई पाप करनेवालों में और चौथाई उन सभासदों में जायगा जो निन्दित की निन्दा नहीं करते । जिस सभा में निन्दा के योग्य की निन्दा की जाती है वहाँ प्रधान दोष रहित होता है, सभासद् भी दोष से छूट जाते हैं, कर्ता ही पाप का भागी होता है ।

शूद्र को भी यज्ञ करने का अधिकार—

चातुर्वर्ण्यस्य कर्माणि चातुर्वर्ण्यं च केवलम् ।
असृजत् स हि यज्ञार्थे पूर्वमेव प्रजापतिः ।।

(महा० अनुशासन प० अ० ४८ । ३)

चारों वर्णों के कर्मों और चारों वर्णों को परमेश्वर ने प्रथम ही यज्ञ के निमित्त सृजे, उत्पन्न किए ।

यहाँ चारों वर्णों का नाम यज्ञार्थ आने से शूद्र को भी यज्ञ करने का ब्राह्मणादि की भाँति समान अधिकार है यह सिद्ध है।

शूद्र को भी तप, दान, धर्म और अग्निहोत्र करने का अधिकार—

ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्याः शूद्रा ये चाश्रितास्तपे।
दानधर्माग्निना शुद्धास्ते स्वर्गं यान्ति भारत!॥

(महा० अश्वमेधिकप० अ० ६१। ३७)

जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तप, दान, धर्म और अग्निहोत्र से शुद्ध हैं वे स्वर्ग को प्राप्त करते हैं।

शूद्र को भी वेद पढ़ाना चाहिये तथा शूद्र को भी वेद पढ़ने का अधिकार—

श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः।
वेदस्याध्ययनं हीदं तच्च कार्यं महत् स्मृतम्॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३२७। ४८)

चारों वर्णों को वेद पढ़ाना चाहिए, उनमें आगे आसन ब्राह्मण का हो, यह वेद का पढ़ना वेद प्रचार बड़ा भारी कार्य माना गया है।

यहाँ चारों वर्णों को वेद पढ़ाने के आदेश में शूद्र को भी अन्य वर्णों की भाँति वेद पढ़ने का अधिकार है यह सूचित किया है।

शूद्र से भी ज्ञानप्राप्ति करना शूद्र का ज्ञानशिक्षक बनने का अधिकार—

ज्ञानान्मोक्षो जायते राजसिंह! नास्त्यज्ञानादेवमाहुर्नरेन्द्र!।
तस्माज्ज्ञानं तत्त्वतोऽन्वेषितव्यं येनात्मानं मोक्षयेज्जन्ममृत्योः॥
प्राप्य ज्ञानं ब्राह्मणात् क्षत्रियाद्वा वैश्याच्छूद्रादपि नीचादभीक्ष्णम्।
श्रद्धातव्यं श्रद्दधानेन नित्यं न श्रद्धिनं जन्ममृत्यू विशेताम्॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३१८। ८७, ८८)

राजन् ! ज्ञान से मोक्ष होता है अज्ञान से नहीं, ऐसा ऋषि कहते हैं, अतः ज्ञान को यथावत् खोजना चाहिए जिससे अपने को जन्म मृत्यु से छुड़ा सके। ब्राह्मण से, क्षत्रिय से, वैश्य से, शूद्र से, नीच से भी पुनः पुनः ज्ञान प्राप्त करके शुद्ध भाव से सदा अपनाना चाहिए ज्ञान में श्रद्धावान् को जन्म मृत्यु प्राप्त नहीं होते।

धर्मज्ञ सदाचारी शूद्र भी पूजनीय हैं—

ज्यायांसमपि शीलेन विहीनं नैव पूजयेत्।
अपि शूद्रं च धर्मज्ञं सद्वृत्तमभिपूजयेत्॥

(महा० अनुशासनप० अ० ४८। ४८)

सद्भाव हीन उच्च वर्णस्थ का भी सत्कार न करे किन्तु धर्मज्ञ-धार्मिक सदाचारी शूद्र की भी पूजा करे।

अस्पृश्यता (अछूतपना) महाभारत काल में न था—

शककाम्बोजबाह्लीका यवनाः पारदास्तथा।
कुलिन्दास्तंगणाम्बष्ठाः पैशाचाश्च सबर्बराः॥

(महा० द्रोणप० जयद्रथवध० ५। १४, १२१। १२–१३)

महाभारत युद्ध में शक, काम्बोज, बाह्लीक, भवन, पारद, कुलिन्द, अगस्तंग अम्बष्ठ देश के राजाओं ने भाग लिया था।

संशप्तका हताः सर्वे काम्बोजाश्च शकैः सह।
म्लेच्छाश्च पार्वतीयाश्च यवना विनिपातिताः॥

(महा० शल्यप० शल्यवध ९। अ० २। २७)

महाभारत युद्ध में संशप्तक, काम्बोज, शक, म्लेच्छ, पार्वतीय यवन मारे गये।

म्लेच्छाश्चार्याश्च राजानः प्राच्योदीच्यास्तथैव च।

(महा० शान्ति प० राजधर्मानु० अ० ६। ७)

कलिङ्ग देश के चित्राङ्गद राजा की कन्या के स्वयंवर में आर्यावर्त के राजा तथा उनके अतिरिक्त पूर्व सीमा के और उत्तरी सीमा के राजा एवं म्लेच्छ राजा भी आये थे।

स्त्रियों के धर्माधिकार तथा उनका सम्मान—

कुन्ती का वानप्रस्थाश्रम ग्रहण—

श्वश्रूश्वशुरयोः पादान् शुश्रूषन्ती वने वने।
गान्धारी सहितो वत्स्ये तापसी मलपङ्किनी॥

(महा० आश्रमवासिप० अ० १८। १२)

कुन्ती कहती है कि मैं सास और श्वसुर के चरणों की सेवा करती हुई गान्धारी के साथ शरीर शृङ्गार और वस्त्र शोभा से रहित तापसी बनकर रहूँगी।

अम्बा के संन्यास ग्रहण की इच्छा—

प्राव्राज्यहमिच्छामि तपस्तप्स्यामि दुश्चरम्।

(महा० उद्योग प० आम्बो० अ० १७५। ४१)

अम्बा कहती है कि मैं संन्यास चाहती हूँ कठिन तप तपूँगी।

सुलभा स्त्री संन्यासिनी—

अथ धर्मयुगे तस्मिन् योगधर्ममनुष्ठिता।
महीमनुचचारैका सुलभा नाम भिक्षुकी॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३२०। ५—७)

उस धर्मयुग में योगधर्म में निष्णाता सुलभा संन्यासिनी पृथ्वी पर परिभ्रमण कर रही थी।

यहाँ नीलकंठ टीकाकार ने भी स्त्री संन्यास को स्वीकार किया है उनका वचन "भिक्षुकीत्यनेन स्त्रीणामपि प्राग्विवाहद् वैधव्यादूर्ध्वं वा संन्यासेऽधिकारोऽस्तीति दर्शितम्" (नीलकण्ठः) 'भिक्षुकी' इस शब्द

से स्त्रियों का भी विवाह से पूर्व अथवा विधवा हो जाने पर संन्यास में अधिकार है यह दिखलाया।

क्षत्रिय वंशज स्त्री को भी संन्यास में अधिकार—

नास्मि वर्णोत्तमा जात्या न वैश्या नावरा तथा।
तव राजन्! सवर्णाऽस्मि शुद्धयोनिरविप्लुता॥
प्रधानो नाम राजर्षिर्व्यक्तं ते श्रोत्रमागतः।
कुले चास्य समुत्पन्नां सुलभां नाम विद्धि माम्॥
(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३२०। ८०, ८१)

सुलभा संन्यासिनी जनक के उत्तर में कहती है कि हे राजन् मैं ब्राह्मणवंशज नहीं, न वैश्या और नहीं शूद्र हूँ किन्तु तेरे वर्ण की क्षत्रिया ब्रह्मचारिणी हूँ, प्रधान नाम के प्रसिद्ध श्रेष्ठ महाराजा का नाम आपने सुना होगा, उसके कुल में उत्पन्न हुई मुझे जान।

सुलभा संन्यासिनी ने राजा जनक को उपदेश भी दिया—

य इमां पृथिवीं कृत्स्नामेकच्छत्रां प्रशास्ति ह।
एकमेव स वै राजा पुरमध्यावसत्युत॥
तत्पुरे चैकमेवास्य गृहं यदधितिष्ठति।
गृहे शयनमप्येकं निशायां यत्र लीयते।
तदनेन प्रसक्तेन फलेनैवेह युज्यते।
गोशतादपि गोक्षीरं प्रस्थं धान्यशतादपि।
प्रासादादपि त्वद्धार्थं शेषाः परविभूतयः॥
(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३२०। ३४-३८)

हे राजन्! जो इस समस्त पृथ्वी का शासन करता है देख वह एक ही नगर में रहता है, उस नगर में भी एक घर में ही विराजता है, घर में रात्रि को एक बिस्तरमात्र पलङ्गमात्र पर ही लेटता है,

केवल इतने स्थान का वह उपभोग कर सकता है, एवं सैकड़ों सहस्रों गोत्रों को रखते हुए भी राजा सेर भर दूध तथा सैकड़ों सहस्रों अन्न कोठारों में से भी आधा सेर अन्न तेरा होता है, शेष भूमि घर दूध अन्न दूसरे की सम्पत्तियाँ हैं, फिर क्यों अभिमान करता है। इत्यादि विस्तृत उपदेश दिया है पूरा उपदेश देखें वैराग्य प्रकरण में।

अरुन्धती ने ऋषियों को धर्मोपदेश दिया—

अरुन्धती उवाच—

तपोवृद्धिर्मया प्राप्ता भवतां स्मरणेन वै।
भवतां च प्रसादेन धर्मान् वक्ष्यामि शाश्वतान्॥

(महा० अनुशासन प० अ० १३० । ३)

मैंने तपोवृद्धि आप लोगों के स्मरण से प्राप्त की, एवं आप जनों के प्रसादार्थ शाश्वत धर्मों का उपदेश करूंगी।

स्त्रियों का सन्मान—

पूज्या लालयितव्याश्च स्त्रियो नित्यं जनाधिप!।
स्त्रियो यत्र हि पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः॥
अपूजिताश्च यत्रैताः सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।
तदा चैतत् कुलं नास्ति यदा शोचन्ति जामयः॥

(महा० अनुशासन प० अ० ४६ । ५, ६)

राजन्! नित्य स्त्रियाँ सम्मान करने, पूजने योग्य और लालन करने योग्य हैं, जिस परिवार, कुल, समाज, राष्ट्र में स्त्रियाँ पूजी जाती हैं वहाँ देवताओं का, दिव्यगुणों का वास होता है। और जिस परिवार, कुल, समाज, या राष्ट्र में स्त्रियाँ निरादृत की जाती हैं वहाँ सब क्रियाएं फलहीन होती हैं। उस कुल का उस समय नाश समझना चाहिये जब कि स्त्रियाँ शोक में रहती हैं।

मानव जन्म के कारण—

निष्कैवल्येन पापेन तिर्यग्योनिमवाप्नुयात्।
पुण्यपापेन मानुष्यं पुण्येनैकेन देवताः।।

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३०२। ४७, ४८)

मोक्ष विरोधी पाप से तिर्यक् योनि को प्राप्त होता है, पुण्य पाप से मानव और पुण्य मात्र से देवता होता है।

शुभैर्लभति देवत्वं व्यामिश्रैर्जन्म मानुषम्।
अशुभैश्चाप्यधो जन्म कर्मभिर्लभतेऽवशः।।

(महा० शान्ति प० मोक्ष अ० ३२१। २५)

शुभ कर्मों से देवत्व को, मिश्रित से मानव जन्म, अशुभ कर्म से निकृष्ट जन्म प्राप्त होता है।

पुण्य जन—

आढ्याश्च बलवन्तश्च यौवनस्थाश्च भारत!।
ये वै जितेन्द्रिया धीरास्ते नराः स्वर्गगामिनः।।

(महा० अनुशासन प० अ० २३। ६४)

धन, धान्य, सम्पन्न, बलवान् यौवन को प्राप्त और जो जितेन्द्रिय धीर जन हैं वे स्वर्गगामी सुखविशेष के भागी और भोगने वाले हैं।

आर्य जन—वीर जन—

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यं रणे राजन्! पलायनम्।

(महा० शल्य प० अ० ३१। २४)

रण में न ठहरना, पलायन कर रण छोड़कर भाग जाना अनार्यों का कार्य है, आर्यों का नहीं। आर्य वीर जन कहलाते हैं वह सिद्ध हुआ।

आर्या युद्धे मतिं कृत्वा न त्यजन्ति स्म संयुगम्।
यथोत्साहं तु समरे निजघ्नुस्तावकारणे।।

(महा० भीष्म प० भीष्मवध अ० ८६। ३१)

युद्ध में आर्या मति करके रणक्षेत्र को नहीं छोड़ते समर में उत्साहानुसार दोनों को मार डाला। यहाँ भी आर्या मति वीरता के अर्थ में है अतः आर्य जन वीर जन बने।

इहलोकी आदि भेद से जनकोटियाँ—

धनानि येषां विपुलानि सन्ति नित्यं रमन्ते सुविभूषिताङ्गाः।
तेषामयं शत्रुवरघ्नलोको नासौ सदा देहसुखे रतानाम्॥
ये योगयुक्तास्तपसि प्रसक्ताः स्वाध्यायशीला जरयन्ति देहान्।
जितेन्द्रियाः प्राणिवधे निवृत्तास्तेषाम सौ नामारिघ्नलोकः॥
ये धर्ममेव प्रथमं चरन्ति धर्मेण लब्ध्वा च धनानि काले।
दारानवाप्य क्रतुभिर्यजन्ते तेषामयं चैवपरश्चलोकः॥
(महा० वनप० मार्कण्डेय० अ० १८३। ८२—८१)

जिन मनुष्यों के पास विपुल धन सम्पत्ति है नित्यं सुभूषित अंगों वाले हैं ऐसे देहसुख में रतजनों का शत्रुरहित यह लोक हो जाता है, परलोक नहीं बनता।

जो योगाभ्यासी तप में प्रवृत्त स्वाध्यायशील देह पोषण से दूर हैं, जितेन्द्रिय प्राणियों का वध नहीं करते, उन सज्जनों का परलोक शत्रुरहित हो जाता है।

जो जन प्रथम धर्म का ही आचरण करते हैं और धर्म से समय पर धन प्राप्त करके गृहस्थ बनकर यज्ञों से भजन करते हैं। उनका यह लोक और परलोक दोनों होते हैं, वे उभयलोकी होते हैं।

हितकारी जन सब का प्रियजन—

प्रियाणि लभते नित्यं प्रियदः प्रियकृत् तथा।
प्रियो भवति भूतानामिह चैव परत्र च॥
(महा० अनुशासन प० अ० ५८। ८)

अन्यों का प्रिय चाहने, प्रिय करने, प्रिय देने वाला जन प्रिय वस्तुओं को प्राप्त करता है और प्राणियों का वह इस जन्म तथा पर जन्म में प्रिय बनता है।

गुणवान् जन के गुण एवं गुणवान् बनने के साधन—

अद्रोहः सर्वभूतेषु सन्तोषः शीलमार्जवम्।
तपो दमश्च सत्यं च प्रदानं चेति सम्मितम्॥
(महा० आश्वमेधिक प० अ० ९०। १२०)

सब प्राणियों के निमित्त द्रोह (वैर) न करना, सन्तोष, शील, सरलता, तप, इन्द्रियदमन, सत्य, दान, ये आठ गुण समान हैं जो मनुष्य को गुणी बनाते हैं।

गुणवान् जन—

ये दम्भान् नाचरन्ति स्म येषां वृत्तिश्च संयता।
विषयांश्च निगृह्णन्ति दुर्गाण्यतितरन्ति ते॥ ३॥
प्रत्याहुर्नोच्यमाना ये न हिंसन्ति च हिंसिताः।
प्रयच्छन्ति न याचन्ते दुर्गाण्यतितरन्ति ते॥ ४॥
वासयन्त्यतिथीन् नित्यं नित्यं ये चानसूयकाः।
नित्यं स्वाध्यायशीलाश्च दुर्गाण्यतितरन्ति ते॥ ५॥
ये वा पापं न कुर्वन्ति कर्मणा मनसा गिरा।
निक्षेप्तारो न भूतेषु दुर्गाण्यतितरन्ति ते॥ ७॥
यात्रार्थं भोजनं येषां सन्तनार्थं च मैथुनम्।
वाक् सत्यवचनार्थाय दुर्गाण्यतितरन्ति ते॥ ८॥
(महा० शान्ति प० राजधर्म० अ० ११०)

जो दम्भ,छल कभी नहीं करते जिनका व्यवहार व्यापार नियमित है, विषयों के अधीन नहीं रहते। कुवचन के बदले में मौन रहते हैं, दूसरे के द्वारा पीड़ा पहुँचाए जाने पर उन्हें पीड़ा नहीं पहुँचाते,

दान देते हैं, लेने की भावना नहीं रखते, सदा अतिथि सेवा करते हैं नित्य अनिन्दक हैं, सदा स्वाध्याय करते हैं। मन, वाणी, कर्म से पाप नहीं करते, प्राणियों पर प्रहार नहीं करते। जीवन यात्रा के निमित्त भोजन न कि स्वाद व्यसनार्थ, गृहस्थ सम्बन्ध सन्तानार्थ मैथुनार्थ नहीं जिनकी वाणी सत्यभाषणार्थ है, वे ऐसे गुणवान् जन दुःखों, कठिनाइयों को तरते हैं।

शास्त्रज्ञ अथवा शास्त्रबुद्धि जन—

नित्यं शमपरा ये च तथा ये चानसूयकाः।
नित्यस्वाध्यायिनो ये च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥

(महा० अनुशासन प० अ० ३१ । २८)

नित्य शान्त अनिन्दक स्वाध्याय करने वाले वे गुणवान् जन दुःखों कठिनाईयों को तरते हैं।

सुखे तु वर्तमानो वै दुःखे वापि नरोत्तम !।
सुवृत्ताद् यो न चलते शास्त्रचक्षुः स मानवः ॥

(महा०, शांति प०, मोक्ष०, अ० २९५ । ३१)

सुख में या दुःख में रहता हुआ भी जो सद व्यवहार से विचलित न हो वह शास्त्र रूप नेत्र वाला अर्थात् शास्त्र में बुद्धिमान् है।

महान् जन—

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥

(महा० शल्य प० गदाप० अ० ५१ । ५०,
शान्ति प० मोक्ष० अ० ३२३ । ६)

न वर्षों से अधिक होने से, न श्वेत केश होने से, न धन से, न बन्धुओं से कोई महान् होता है। ऋषियों ने नियम बनाया कि जो अनूचान, पूर्ण विद्वान् वक्ता है वह हमारे में महान् है।

पापी जन—

ब्राह्मणं तु समाहूय भिक्षार्थे कृशवृत्तिकम्।
ब्रूयान्नास्तीति यः पश्चात्तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम्॥

(महा०, अनुशासन प०, अ० २४। ५)

अन्यवृत्तिरहित ब्राह्मण को भिक्षार्थ भोजनार्थ बुलाकर पश्चात् भोजन नहीं है ऐसे कहने वाले को ब्रह्मघाती जानो।

शोचनीय जन—

रागी युक्तः पचमान आत्महेतोर्मूर्खो वक्ता नृपहीनं च राष्ट्रम्।
एते सर्वे शोच्यतां यान्ति राजन्! यश्च राजा स्नेहहीनः प्रजासु॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० २९०। २६)

योगी राग में पड़ जावे, अपने लिए ही पकाने वाला, मूर्ख वक्ता, शासक से रहित राष्ट्र, प्रजाजनों में स्नेह न रखने वाला राजा, ये सब शोचनीय हैं, दोषयुक्त हैं।

सत्सङ्ग और कुसङ्ग का परिणाम—

आश्रम सङ्गति के अनुसार गुण प्रादुर्भाव—

यथा तिलानामिह पुष्पसंश्रयात्।
पृथक् पृथग् याति गुणोऽतिसौम्यताम्॥
तथा नराणां तु विभावितात्मनां।
यथाऽऽश्रमं सत्त्वगुणः प्रवर्तते॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० २९८। १३)

जैसे फूलों के आश्रय सम्पर्क से तिलों का भिन्न भिन्न गुण सौम्यता को प्राप्त होता है तथा भावनावाले मनुष्यों के अन्दर भी आश्रयानुसार सङ्गति के अनुसार सत्त्वगुण आ जाता है।

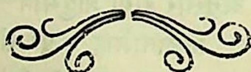
तथा—

असतां दर्शनात्स्पर्शात्सञ्जल्पात्सहासनात्।
धर्माचाराः प्रहीयन्ते सिध्यन्ति च न मानवाः॥

बुद्धिश्च हीयते पुंसां नीचैः सह समागमात् ।
मध्यमैर्मध्यतां याति श्रेष्ठतां याति चोत्तमैः ॥

(महा० वनप० आरण्यप० अ० । २९—३०)

असत्पुरुषों के दर्शन से, स्पर्श से, साथ बैठने से, धर्माचार नष्ट हो जाते हैं और मनुष्य मानवता को साध नहीं सकते । निकृष्ट नीच जनों के सङ्गत से बुद्धि नष्ट हो जाती है, मध्यमों के सङ्ग से मध्यम हो जाती है और उत्तम श्रेष्ठ जनों के साथ समागम करने से बुद्धि श्रेष्ठ हो जाती है ।



षष्ठ पार्श्व

राष्ट्रिय संस्थान

राजधर्म—

प्रजाजनों को राजा पुत्र के समान समझे—

पुत्रा इव पितुर्गेहे विषये यस्य मानवाः ।
निर्भया विचरिष्यन्ति स राजा राजसत्तमः ॥

(महा० शान्ति प० राजधर्म० अ० ५७ । ३३)

जिस राजा के देश में प्रजाजन, पिता के घर में पुत्र की भाँति निर्भय विचरते हैं वह राजा राजाओं में उत्तम है ।

राजा का धर्माचरण और आस्तिक भाव—

चरेद् धर्मानकटुको मुञ्चेत् स्नेहं न चास्तिक्यम् ।
विश्वसेन्नापकारिषु ॥

(महा० शान्ति प० राजधर्म० अ० ७० । ३, ७)

राजा सरल होकर धर्माचरण करे, स्नेह और आस्तिकता को न छोड़े, अपकारी जनों का विश्वास न करे ।

आचार राजा का बल है—

तथाऽऽचारबलं चैव यस्यात्यन्तसमं नृप ॥

(महा० आश्रमवासिप० अ० ७७ । २)

राजन् ! आचार भी राजा का बल है जिसके समान अन्य बल नहीं है ।

राजा की धर्म-परायणता और जन सेवा—

वर्तितव्यं कुरुश्रेष्ठ ! सदा धर्मानुवर्त्तिना ।
स्वं प्रियं तु परित्यज्य यद्यल्लोकहितं भवेत् ॥
न सन्त्याज्यं च ते धैर्यं कदाचिदपि पाण्डव ॥

(महा० शान्ति प० राजधर्म अ० ५६)

हे राजन् ! सदा धर्मानुवर्ती रहना, अपना सुख छोड़कर लोक-हित साधना और धैर्य को भी न छोड़ना ।

राजा का प्रजाजनों में धर्म बनाए रखना—

यं हि धर्मं चरन्तीह प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः ।
चतुर्थं तस्य धर्मस्य राजा भारत ! विन्दति ॥
(महा० शान्ति प० राजधर्म० अ० ७५ । ६)

राजा द्वारा सुरक्षित हुए प्रजाजन जिस धर्म का आचरण करते हैं उसका चतुर्थांश पुण्य राजा को मिलता है ।

राजधर्म तथा राजशास्त्र के रचयिता ऋषि—

एतत्ते राजधर्माणां नवनीतं युधिष्ठिर ! ।
बृहस्पतिर्हि भगवान् न्याय्यं धर्मं प्रशंसति ॥
विशालाक्षश्च भगवान् काव्यश्चैव महातपाः ।
सहस्राक्षो महेन्द्रश्च तथा प्राचेतसो मनुः ॥
भारद्वाजश्च भगवांस्तथा गौरशिरा मुनिः ।
राजशास्त्रप्रणेतारो ब्रह्मण्या ब्रह्मवादिनः ॥
(महा० शान्ति प० राजधर्म० अ० ५८ । १—३)

युधिष्ठिर ! तेरे लिए यह राजधर्मों का नवनीत है जिस न्याय के धर्म को राजधर्म के आचार्य भगवान् बृहस्पति कथन करते हैं एवं भगवान् विशालाक्ष, काव्य, सहस्राक्ष, महेन्द्र, प्राचेतस मनु, भरद्वाज, गौरशिरा ये ब्रह्मवादी ब्राह्मण अर्थात् ऋषि राजशास्त्रों के प्रणेता कथन करते हैं ।

राजा या शासक के गुण—

धर्मेण राज्यं विन्देत धर्मेण परिपालयेत् ।
धर्ममूलां श्रियं प्राप्य न जहाति न हीयते ॥
(महा० उद्योगप० प्रजागार० अ० ३४ । ३१)

राजा राज्य को धर्म से प्राप्त करे और धर्म से उसका रक्षण करे। धर्ममूलक राज्य श्री को प्राप्त करके वह उसे न छोड़ता है, न हीन क्षीण होता है।

राजा या शासक के दोष—

अथ येषामधर्मज्ञो राजा भवति नास्तिकः।
न ते सुखं प्रबुध्यन्ति न सुखं प्रस्वपन्ति च॥

(महा० अनुशासनप० अ० ६२। ४१)

जिनका राजा धर्मज्ञ न हो और नास्तिक हो वे जन न सुख से जागते हैं और न सुख से सोते हैं।

यस्मात् त्रस्यन्ति भूतानि मृगव्याधान्मृगा इव।
सागरान्तामपि महीं लब्ध्वा स नृप हीयते॥

(महा० उद्योगप० प्रजागार० अ० ३४। २६)

जिस शासक के प्रजाजन ऐसे त्रसित होते हैं जैसे मृगों के पकड़ने वाले व्याध से मृग त्रसित होते हैं तो ऐसा राजा सागर-पर्यन्त पृथिवी को भी प्राप्त होकर नष्ट हो जाता है।

राजा सदा दुःखी रहता है—

हतो देशः पुरं दग्धं प्रधानः कुञ्जरो मृतः।
लोकस्तु धारणेष्वेषु मिथ्याज्ञानेन तप्यते॥ ४९॥
अमुक्तो मानसैर्दुःखैरिच्छाद्वेषभयोद्भवैः।
शिरोरोगादिभी रोगैस्तथैवाभिनियन्तृभिः॥ ५०॥
द्वन्द्वैस्तैस्तैरुपहतः सर्वतः परिशङ्कितः।
बहुमत्यर्थिकं राज्यमुपास्ते गणयन्निशाः॥ ५१॥
तदल्पसुखमत्यर्थं बहुदुःखमसारवत्।
तृणाग्निज्वलनप्रख्यं फेनबुद्बुदसन्निभम्॥ ५२॥
को राज्यमभिपद्येत प्राप्य चोपशमं लभेत्॥ ५३॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३२०)

देश नष्ट हो गया, नगर जल गया, सबसे उत्तम हाथी मर गया इस प्रकार मिथ्या ज्ञान से इनके अन्दर ममत्व की धारणाओं में राजा या शासक जन दुःखी होता है। इच्छा, द्वेष, भय से उत्पन्न मानसिक दुःखों से राजा घिरा हुआ होता है तथा शिर पीड़ा आदि रोगों से एवं जहाँ तहाँ खींचने वाले उन उन द्वन्द्वों से ताड़ित सब ओर से शङ्कित हुआ, रात्रियाँ चिन्ता में गिनता हुआ अनेक प्रतिकूलतापूर्ण राज्य का सेवन करता है। इस प्रकार थोड़े सुख वाले अर्थहीन बहु दुःखवाले असार जैसे घास की अग्नि के समान अस्थिर फेन के बुद्बुदे के सदृश राज्य को प्राप्त करके कौन है जो शान्ति पा सके, अर्थात् कोई नहीं पा सकता।

न्याय निर्णय में निषिद्ध साक्षी जन—

सामुद्रिकं वणिजं चोरपूर्वं शलाकाधूर्तं च चिकित्सकम्।
अरिं च मित्रं च कुशीलवं च नैतान् साक्ष्येऽधिकुर्वीत सप्त॥

(महा० उद्योगप० प्रज.जा० ३५)

सामुद्रिक जन, हाथ मस्तक आदि देखने वाले, व्यापारी पूर्व चोर रहा हुआ, जुए में चतुर और चिकित्सक, शत्रु तथा मित्र गाने आदि में कुशल इन सात को साक्षी न माना जावे।

राजनीति—

राजा या शासक बनाने का प्रयोजन—

राजा चेन्न भवेल्लोके पृथिव्यां दण्डधारकः।
जले मत्स्यानिवाभक्ष्यन् दुर्बलं बलवत्तराः॥

(महा० शान्ति प० राजध० अ० ६७। १६)

दण्ड विधायक राजा यदि संसार में न हो तो जल में जैसे मछलियों को अन्य बलवान् जलचर खा जाते हैं ऐसे ही निर्बल को बलवान् खाजावें।

राज्य में राजा अभिषिक्त करने का अधिकार नागरिक जनों को—

ते वयं [पौराः २३ से] पाण्डवज्येष्ठं तरुणं युद्धशालिनम् ।
अभिषिञ्चाम साध्वद्य सत्यकारुण्यवेदिनम् ॥

(महा० आदिप० जतुगृहपर्व० अ० १४३ । २७)

हम नागरिक जन युवा युद्धवीर, सत्यपरायण, दयावान् युधिष्टिर का आज हर्ष से अभिषेक करते हैं।

अमात्य मण्डल—

वक्ष्यामि तु यथाऽमात्यान् यादृशांश्च करिष्यति ।
चतुरो ब्राह्मणान् वैद्यान् प्रगल्भान् स्नातकान् शुचीन् ॥
क्षत्रियांश्च तथैवाष्टौ बलिनः शस्त्रपाणिनः ॥
वैश्यान् वित्तेन सम्पन्नानेकविंशतिसंख्यया ।
त्रींश्च शूद्रान् विनीतांश्च शुचीन् कर्मणि पूर्वके ॥

(महा० शान्ति प० राजधर्म० अ० ९० । १५)

अब अमात्य जैसे करने चाहिये यह कहेंगे—चार ब्राह्मण जो वैद्य विद्वान्, वेद स्नातक, पवित्र हों, आठ क्षत्रिय जो बलवान् और शस्त्र-धारी हों, इक्कीस वैश्य जो धन धान्य से सम्पन्न हों, तीन शूद्र जो प्रथम से विनीत पवित्र हों।

अपने छिद्रों को शत्रु तक न पता होने दें—

नात्मच्छिद्रं रिपुर्विद्याद्विद्याच्छिद्रं परस्य तु ।
गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥

(महा० शान्ति प० आपद्धर्म० अ० १४० । २४)

अपने छिद्रों को शत्रु न पाये, दूसरे के छिद्र को तो जान ले। अङ्गों स्वाङ्गों एवं राज्याङ्गों को कछुवे की भाँति गुप्त एवं नियंत्रण में रखे और अपने छिद्रों को भी गुप्त रखे।

शूरान् भक्तान् शिष्टसम्बन्धान् मानिनोनाऽवमानिनः ।
विद्याविदो लोकविद: परलोकानुपेक्षकान् ।
धर्मे च निरतान् साधूनचलानचलानिव ।
सहायान् सततं कुर्याद् राजा भूतिपरिष्कृत: ॥

(महा० शान्ति प० राजधर्मं० अ० ५७ । २३—२५)

शूरवीरों, भक्तों, शिष्ट परिवारवालों, प्रतिष्ठित जनों, अनादर न करनेवालों, विद्यावेत्ताओं, व्यवहारवेत्ताओं, परलोकदर्शियों, धर्म में रत रहनेवालों, सज्जनों, पर्वत के समान दृढ़निश्चयी जनों को आत्मिक ऐश्वर्य से सम्पन्न राजा निरन्तर सहायक बनावे ।

सीमा में निर्वासित करने योग्य जन—

गुरुतल्पगे च ब्रह्मघ्ने भ्रूणहत्ये तथैव च ।
राजद्विष्टे च विप्रस्य विषयान्ते विसर्जनम् ॥

(महा० शान्ति प० राजध० अ० ५६ । २३, ३३)

जब कोई विद्वान् ब्राह्मण की हत्या करदे, गुरुपत्नी से व्यभिचार करले, भ्रूण हत्या कर डाले और राजद्रोह करे तो उसे देश की सीमा में रखदे या निर्वासित करदे ।

अमित्र से भी सन्धि करनी चाहिये—

अमित्रैरपि सन्धेयं प्राणा रक्ष्या हि भारत ! ।
यो ह्यमित्रैर्नरो नित्यं न सन्दध्यादपण्डितः ॥

(महा० शान्ति प० आपद्धर्मं० अ० १३८ । १५)

शत्रु से सन्धि रखनी चाहिये प्राण रक्षा तो करनी ही है, जो मनुष्य शत्रुओं से नित्य अलग रहता है वह अबुद्धिमान् है ।

इस विषय में महाभारत में निम्न दृष्टान्त दिया है—

एक व्याध जंगल में वृक्ष के साथ सायं जाल लगाकर घर चला गया कि प्रातः आऊँगा और कोई जङ्गली पशु इसमें फँस जायगा।

तो उसे लेजाऊँगा। कुछ रात्रि जाने पर एक बिडाल (बिल्ली) वृक्ष की चिड़ियों को खाने आई तो फँस गई और निकलने के लिए व्याकुल हो उठी पर निकल न पाई। इतने में एक चूहा बिल से बाहर निकल कुछ खाने की खोज में घूमने लगा तो देखा कि भूमि पर नेवला है। उसे अपने खाए जाने का भय हुआ, कैसे अपने को बचाऊँ। वृक्ष पर चढ़ने की सोची तो ऊपर उल्लू बैठा दिखलाई पड़ा। जाल में बिल्ली है, अब क्या करूँ, सोचा जाल में बिल्ली के पास चलूँ, नेवला बिल्ली के डर से उसमें न आयगा और न उल्लू उधर पहुँचेगा, बिल्ली जाल से निकलने को तड़फड़ा रही थी, चूहा जाल में घुसा और बोला तुम जाल में फँस गई हो। मैं तुम्हें छुड़ाने आया हूँ, मेरे दाँत नुकीले और पैने हैं। मैं जाल को काट दूँगा, तुम निकल भागना, बिल्ली अपने छुटकारे की बात सुनकर प्रसन्न हो गई। चूहे ने कहा मैं जाल काटने आया हूँ, पर बाहर नेवला बैठा है वह मुझे खा जायेगा, तुम्हारा जाल न काटने देगा। अतः तुम कुछ देर के लिए अपने बालों में छिपालो, जब वह चला जावेगा तो मैं जाल काटने बाहर निकल जाऊँगा। बिल्ली ने चूहे को बालों में छिपा लिया, रात्रिभर छिपा बैठा रहा, तो जब दिन निकला तो उल्लू को तो दीखना बन्द हो गया, वह तो अन्धा होगया, व्याध आ पहुँचा, तो उसे देखकर नेवला दौड़ गया, चूहा बिल्ली के बालों से बाहिर आ अपने बिल में घुस गया। इस प्रकार बिल्ली शत्रु थी चूहे की, पर अवसर पर उससे सन्धि कर अपने प्राण बचा लिए।

शत्रु के प्रति मित्रवत् व्यवहार करे—

शत्रुं च मित्ररूपेण सान्त्वनैवा भिसान्त्वयेत्।
स नित्यश्चोद्विजेत्तस्माद्गृहात्सर्पयुतादिव॥

(महा० शान्ति प० आपद्ध० अ० १४। १५)

शत्रु को मित्ररूप मधुर व्यवहार से सन्तुष्ट रखे और उससे नित्य सर्पयुक्त घर की भाँति भय करता रहे—सावधान रहे।

शासक को प्रजाजनों पर आतंक न डालना चाहिये, अन्याय से कोष भी न भरना चाहिये—

कच्चित्तेऽपि निरातङ्का वसन्ति विषये तव।
कच्चिन्न्यायानविच्छिद्य कोशस्तेऽभि पूर्यते॥

(महा० आश्रमवासिप० अ० २६। ४०)

धृतराष्ट्र वनवास में मिलने आए, युधिष्ठिर से पूछते हैं कदाचित् तेरे देश में लोग आतङ्क रहित रहते हैं, तेरा आतङ्क–दबाव तो किसी प्रकार का उन पर नहीं और कदाचित् तेरा राज्य कोष अन्याय तो नहीं भरा जाता है।

शासक न मृदु हो, न कठोर, मध्यम हो—

अधर्मो हि मृदू राजा क्षमावानिव कुञ्जरः।
बार्हस्पत्ये च शास्त्रे च श्लोको निगदितः पुरा॥
क्षममाणं नृपं नित्यं नीचः परिभवेज्जनः।
हस्तियन्ता गजस्येव शिर एवारुरुक्षति॥
तस्मान्नैव मृदुर्नित्यं तीक्ष्णो नैव भवेन्नृपः।
वसन्तार्क इव श्रीमान्न शीतो न च घर्मदः॥

(महा० शान्ति प० राजधर्म० अ० ५६। ३८-४१)

बार्हस्पत्य राजनीति विषयक शास्त्र में कहा है कि शासक मृदु हो तो न्यायधर्म से रहित है जैसा कि क्षमावान् हाथी, जैसे हाथी के क्षमावान् होने से हाथी का चलाने वाला उसके शिर पर सवार होता है एवं क्षमावान् शासक पर नीच जन सदा दबाब डालता रहता है, अतः जैसे वसन्त ऋतु में सूर्य न शीत है और न ताप देने वाला है एवं शासक भी न मृदु हो और न कठोर, वह मध्यम हो।

वश में आये शत्रु को न छोड़ना चाहिए—

न शत्रुर्वशमापन्नो मोक्तव्यो वध्यतां गतः ।
न्यग्भूत्वा पर्युपासीत वध्यं हन्याद्बले सति ॥
अहताद्धि भयं तस्माज्जायते न चिरादिव ॥

(महा० उद्योगप० प्रजा० अ० ३८ । २१)

वध करने योग्य वश में आए शत्रु को न छोड़ना चाहिये छिपकर या तटस्थ होकर निरीक्षण करता रहे, जब बल हो तब उसे मार दे। मारे न जाने से शीघ्र किसी भय की सम्भावना है।

शत्रु का विश्वास न करे—

योऽरिणा सह सन्धाय सुखं स्वपिति विश्वसन् ।
स वृक्षाग्रे प्रसुप्तो वा पतितः प्रतिबुध्यते ॥

(महा० शान्ति प० आपद्धर्म० अ० १४० । २५)

जो राजा शत्रु के साथ सन्धि करके विश्वास के साथ सुख से सोता है वह वृक्ष की शाखा पर सोये हुए गिरकर जागनेवाले की भाँति दशा वाला होता है।

अरक्षित राजा को प्रजाजन मार दें—

अरक्षितारं हर्तारं विलोप्तारमनायकम् ।
तं वै राजकलिं हन्युः प्रजाः सन्नह्य निर्घृणम् ॥
अहं वो रक्षितेत्युक्त्वा यो न रक्षति भूमिपः ।
स संहत्य निहन्तव्यः श्वेव सोन्माद आतुरः ॥

(महा० अनुशासनप० अ० ६१ । ३२—३३)

रक्षा न करने वाले, धन हरनेवाले, सताने वाले, भयानक, निर्दय, दुष्ट राजा को प्रजा मिलकर मारदे, मैं तुम्हारी रक्षा करूंगा, ऐसा कहकर जो राजा रक्षा न करे उसे उन्मत्त (पागल) कुत्ते की भाँति मार देना चाहिये।

अयुद्ध से विजय प्राप्ति श्रेष्ठ है—

अयुद्धेनैव विजयं वर्धयेद् वसुधाधिप !।
जघन्यमाहुर्विजयं युद्धेन च नराधिप ॥

(महा० शान्ति प० राजध० अ० ९४ । १)

हे राजन् ! जहाँ तक हो युद्ध के बिना ही विजय की वृद्धि करे, और युद्ध से प्राप्त विजय निकृष्ट है, निन्दनीय है ।

राजनीति में छल—

युधिष्ठिर से 'अश्वत्थामा मारा गया' बुलवाकर छल से द्रोणाचार्य को मरवाया—

अश्वत्थामा हतः 'कुञ्जरः'.....मनसि निधाय ।
धर्मराजस्य तद्वाक्यं नाभिशङ्कितुमर्हसि ॥

(महा० द्रोणप० द्रोणवधप० अ० १९२ । ४२)

द्रोणाचार्य को कृष्ण ने छल से मरवाया, अश्वत्थामा द्रोणाचार्य का पुत्र था। उस के मारे जाने पर द्रोणाचार्य अपने शस्त्र छोड़ देगा ऐसा निश्चय था। श्रीकृष्ण ने "अश्वत्थामा मारा गया" ऐसा धर्मराज युधिष्ठिर के मुख से असत्य (छल मिश्रित सत्याभास) बुलवाकर द्रोणाचार्य को मरवाया, धर्मराज युधिष्ठिर ने भी कह दिया कि 'अश्वत्थामा मारागया' परन्तु झूठ से बचने के लिए मन में 'हाथी' कहा, अश्वत्थामा हाथी मारा गया । बाहर स्पष्ट रूप में द्रोणाचार्य का पुत्र अश्वत्थामा मारा गया ऐसा समझा जावे, इस लिए युधिष्ठिर ने प्रकट मुख से न करके मन में हाथी नाम लिया। श्रीकृष्ण ने द्रोणाचार्य से कहा कि 'अश्वत्थामा' मारा गया क्योंकि धर्मराज युधिष्ठिर के वचन में सन्देह नहीं किया जा सकता ।

कृष्ण ने छल का युद्ध में प्रयोग किया—

नैष शक्यः कदाचित्तु हन्तुं धर्मेण पार्थिव !।
ते भीष्मप्रमुखाः सर्वे महेश्वासा महारथाः ॥

ममाऽनेकैरुपायैस्तु मायायोगेन चासकृत् ।
हतास्ते सर्व एवाऽजौ भवतां हितमिच्छता ॥
यदि नैवंविधं जातु कुर्यां जिह्ममहं रणे ॥
कुतो वो विजयो भूयः कुतो राज्यं कुतो धनम् ।
तथैवायं गदापाणिर्धार्तराष्ट्रोऽतिरथा भुवि ।
न शक्यो धर्मतो हन्तुं लोकपालैरपि स्वयम् ॥

(महा० शल्यप० गदाप० अ० ६१ । ६२–६४, ६६)

कृष्णजी कहते हैं कि हे युधिष्ठिर ! धर्म से युद्ध करते हुए यह कभी मारा नहीं जा सकता, अथवा वे भीष्म पितामह आदि महा-वीर योद्धा नहीं मारे जा सकते, मैंने ही युद्ध में अनेक छल प्रयुक्त उपायों से अनेक बार इन्हें मारा, आप लोगों के हितार्थ, यदि मैं इस प्रकार छल न करूँ तो कैसे विजय हो, और तुम्हारा कैसा राज्य और कैसा धन ? इसीप्रकार यह गदा हाथ में लिए दुर्योधन भी पृथ्वी पर अत्यन्त योद्धा है जो धर्म से लोकपालों से भी नहीं जीता जासकता।

शस्त्र अस्त्र—

अस्त्रों के तीन भेद—

दैवं ब्राह्मं मानुषं च सयत्नं सचिकित्सितम् ।
सर्वास्त्राणां प्रयोगं च अभिजानन्ति कृत्स्नशः ॥

(महा० वनप० अर्जुनाभिग० अ० ३७ । ५)

दैव (देवों सूर्यकिरणों, विद्युत्-आदि के अस्त्र), ब्राह्म (खनिज पदार्थों से बने बम आदि अस्त्र), मानुष (मनुष्यों द्वारा पास पास फेंके जाने वाले बाण आदि अस्त्र), ये तीन अस्त्र फेंकने तथा प्रतीकार सहित एवं सब अस्त्रों के प्रयोग को सम्पूर्ण रूप से जानते हैं ।

नारायण अस्त्र—

प्रावात्सपृषतो वायुरनभ्रे स्तनयित्नुमान् ।
चचाल पृथिवी चापि चक्षुभे च महोदधिः ॥

प्रतिस्रोतः प्रवृत्ताश्च गन्तुं तत्र समुद्रगाः।
शिखराणि व्यशीर्यन्त गिरीणां तत्र भारत!॥

(महा० द्रोणप० नारायणास्त्र मोक्ष प० अ० १९६। १-३)

नारायण अस्त्र के छोड़ने से बिना अभ्र के गड़गड़ाहट वाला चिनगारियों सहित वायु वेग से प्रवाहित हो पड़ा, पृथ्वी कांप उठी, समुद्र क्षुब्ध हो गया, नदियाँ उलटी ऊपर को लौट गई और पर्वतों के शिखर टूटकर गिर पड़े।

ऐन्द्र आदि अस्त्र—

ऐन्द्रं पाशुपतं त्वाष्ट्रं वायव्यमथ वारुणम्।
मुक्तं मुक्तं द्रोणाचार्यात् तज्जघान धनंजयः॥

(महा० द्रोणप० द्रोणवध० अ० १८८। ३१-३२)

ऐन्द्र (विद्युत् का अस्त्र), पाशुपत (खनिज का अस्त्र), त्वाष्ट्र (सूर्य्य किरणों का सौर अस्त्र), वायव्य (वायु का अस्त्र), वारुण (वाष्प फेंकने तथा वर्षा करने वाले अस्त्र), द्रोणाचार्य से फेंके हुए इन अस्त्रों को अर्जुन ने नष्ट कर दिया।

अग्नि वर्षा आदि करने वाले आग्नेय आदि अस्त्र—

आग्नेयेनासृजद् वह्निं वारुणेनासृजत् पयः।
वायव्येनासृजद् वायुं पार्जन्येनासृजद् घनान्॥
भौमेन प्राविशद् भूमिं पार्वतेनासृजद् गिरीन्।
अन्तर्धानेन चास्त्रेण पुनरन्तर्हितोऽभवत्॥

(महा० आदि प० सम्भव० अ० १३७। १९-२०)

अर्जुन ने आग्नेय अस्त्र से अग्नि छोड़ी, बरसाई, वारुण अस्त्र से जल छोड़ा, बरसाया, वायव्य अस्त्र से वायु की आँधी बहाई, पार्जन्य अस्त्र से मेघों को फैलाया, भौम अस्त्र से भूमि में प्रविष्ट हुआ या किया, पार्वत अस्त्र से टीलों, छोटे पर्वतों को भूमि से ऊपर उभार दिया, अन्तर्धान अस्त्र से अन्तर्धान हो गया।

तामस् और भास्कर अस्त्र का प्रयोग—

प्रादुश्चक्रे महामायां तामसीं परतापनाम् ।
ततस्ते तमसा सर्वे वृताश्चासन् महीपते ॥
नाभिमन्युमपश्यन्त नैव स्वान् न परान् रणे ।
अभिमन्युश्च तद्दृष्ट्वा घोररूपं महत्तमः ॥
प्रादुश्चक्रेऽस्त्रमत्युग्रं भास्करं कुरुनन्दन ! ।
ततः प्रकाशमभजज्जगत् सर्वं महीपते ॥

(महा० भीष्मप० भीष्मवध० अ० १० । २३–२५)

परपीडक तामसी माया प्रकट की (तामस-अन्धकार फैलानेवाला अस्त्र चलाया) तब सब अन्धकार युक्त कर दिए गए, अभिमन्यु को न देखा और न अपनों विगानों को देखा, अभिमन्यु ने उस घोर रूप को देखकर अत्युग्र भास्कर (सौर अस्त्र) को प्रकट किया जिससे सब जगत् ने प्रकाश को पाया ।

विनाशकारी वायव्य अस्त्र—

मुमोचास्त्रं महाराज वायव्यं पृतनामुखे ।
प्रादुरासीत् ततो वायुः क्षोभयानो नभस्तलम् ॥
पातयन् वै तरुगणान् निघ्नंश्चैव सैनिकान् ।
ततो द्रोणोऽभिवीक्ष्यैव वायव्यास्त्रं सुदारुणम् ॥
शैलमन्यन्महाराज ! घोरमस्त्रं मुमोच ह ।
द्रोणेन युधि निर्मुक्ते तस्मिन्नेव नरोत्तम ! ॥

(महा० भीष्मप० भीष्मवध अ० १०२ । १८)

पुनः वायव्य अस्त्र को फेंका उससे आकाश मण्डल क्षुब्ध करता हुआ, वृक्षों को गिराता हुआ, और सैनिकों को मारता हुआ, वायु प्रकट कर रहा था पुनः द्रोणाचार्य ने उस वायव्यास्त्र को देख शैल अस्त्र फेंका ।

ब्रह्मशिरः—अस्त्र से बारह वर्ष वर्षा नहीं होती, उसे न छोड़ना चाहिये—

अस्त्रं ब्रह्मशिरो यत्र परमस्त्रेण वध्यते ।
समा द्वादश पर्जन्यस्तद्राष्टं नाभिवर्षति ॥
एतदर्थं महाबाहुः शक्तिमानपि पाण्डव ! ।
न विहन्यात्तदस्त्रं तु प्रजाहितचिकीर्षया ॥

(महा० सौप्तिकप० अ० १६ । २३—२४)

ब्रह्मशिर अस्त्र के आघात से बारह वर्ष मेघ उस राष्ट्र में नहीं बरसता है, इसलिए हे अर्जुन ! जनहित की भावना से उस अस्त्र को न छोड़ना ।

अस्त्रं ब्रह्मशिरस्तात ! विद्वान् पार्थो धनञ्जयः ।
उत्सृष्टवान्न रोषेण न नाशाय तवाहवे ॥

(महा० सौप्तिकप० अ० १५ । १९)

अर्जुन ने ब्रह्मशिर अस्त्र को जानते हुए भी क्रोध में आकर तेरे नाश के लिए नहीं छोड़ा ।

वास करने और न करने के योग्य राष्ट्र—

यत्र राजा च राज्ञश्च पुरुषाः प्रत्यनन्तराः ।
कुटुम्बिनामग्रभुजस्त्यजेत्तद्राष्ट्रमात्मवान् ॥
श्रोत्रियस्त्वग्रभोक्तारो धर्मनित्याः सनातनाः ।
याजनाध्यापने युक्ता यत्र तद्राष्ट्रमावसेत् ॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० २८७ । ४८, ४९)

जिस राष्ट्र में राजा और राज कर्मचारी ऊपर से नीचे तक सब कुटुम्बियों से पूर्व खानेवाले हों, साभिमान एवं आत्म ज्ञानी उस राष्ट्र को छोड़ दे । जिस राष्ट्र में वेदवेत्ता, धर्मपरायण, निरन्तर यज्ञ कराने और पढ़ाने में लगे हुए, पूर्व खाने वाले हों उस राष्ट्र में बसना चाहिए ।

सुरापान का राष्ट्र में निषेध—

आघोषयंश्च नगरे वचनादाहुकस्य ते।
जनार्दनस्य रामस्य बभ्रोश्चैव महात्मनः॥
अद्यप्रभृति सर्वेषु वृष्ण्यन्धककुलेष्विह।
सुरासवो न कर्तव्यः सर्वैर्नगरवासिभिः॥
यश्च नो विदितं कुर्यात् पेयं कश्चिन्नरः क्वचित्।
जीवन् स शूलमारोहेत् स्वयं कृत्वा सबान्धवः॥

(महा० मौसलप० अ० १। ३०, ३१)

व्यवस्थापकों ने आहुक कृष्ण बलराम बभ्रु के आदेश से नगर में घोषित कर दिया कि आज से सब वृष्णि अन्धक कुलों में सुरा और आसव कच्चा, पक्का, मद्य (शराब) न बनाना चाहिये तथा सब नगरवासी भी न बनावें और जिस किसी मनुष्य का पता चल गया कि वह सुरापान करता है तो उसे परिवार सहित जीवित शूली पर चढ़ना होगा।

दण्ड के योग्य जन—

परस्य दण्डं नोद्यच्छेत् क्रुद्धो नैनं निपातयेत्।
अन्यत्र पुत्राच्छिष्याच्च शिक्षार्थं ताडनं स्मृतम्॥

(महा० अनुशासन प० अ० १०४। ३७)

पुत्र और शिष्य को छोड़कर दूसरे पर दण्ड न उठावे और न क्रुद्ध होकर दण्ड दे, पुत्र और शिष्य को ताड़ना तो शिक्षा के लिए करना ही है।

दण्ड से विद्याप्रचार—

न विद्यां प्राप्नुयात् कश्चिद् यदि दण्डो न पालयेत्।

(महा० शान्ति० राजध० अ० १५। ४०)

५

यदि दण्डविधान न हो तो कोई विद्या भी न पढ़े। विद्या का दान किन्हीं अंशों में अनिवार्य होना चाहिए, नियम के उल्लंघन में दण्ड देना चाहिए।

भारतवर्ष—

इदं तु भारतं वर्षं ततो हैमवतं परम्।
हेमकूटात् परं चैव हरिवर्षं प्रचक्षते॥

(महा० भीष्मप० जम्बूखण्ड निर्माण अ० ६। ७)

यह हिमालय तक भारतवर्ष है, आगे हैमवत, हेमकूट, हिमालय प्रदेश की चोटी से परले देश को हरिवर्ष कहते हैं।

देशान्तर—

सन्ति नित्यहिमा देशा निर्वृक्षमृगपक्षिणः।
सन्ति क्वचिन्महादर्यो दुर्गाः कैचिद् दुरासदः॥

(महा० आदिप० सम्भवप० अ० १२०। १३)

"सदा बर्फ वाले देश हैं, जहाँ वृक्ष पक्षी भी नहीं होते, कहीं कहीं बड़ी बड़ी घाटियाँ दुगर्म्य और दुर्निवास हैं।" ऐसे स्थानों, देशों में भी आर्यों का गमन हो चुका था।

देशदेशान्तर यात्रा—

स तं ब्राह्मणा श्रिया युक्तं ब्रह्मणातुल्यवर्चसम्।
मेने पुत्रं यदा व्यासो मोक्षधर्मविशारदम्॥ ५॥
उवाच गच्छेति तदा जनकं मिथिलेश्वरम्।
स ते वक्ष्यति मोक्षार्थं निखिलं मिथिलेश्वरः॥ ६॥
मेरोर्हरेश्च द्वे वर्षे वर्षं हैमवतं ततः।
क्रमेणैव व्यतिक्रम्य भारतं वर्षमासदत्॥१४॥
स देशान् विविधान् पश्यंश्चीनहूणनिषेवितान्।
आर्यावर्तमिमं देशमाजगाम महामुनिः॥१५॥

पितुर्वचनमाज्ञाय तमेवार्थं विचिन्तयन्।
अध्वानं सोऽतिचक्राम खचरः खेचरन्निव ॥१६॥
(महा० शान्ति प० मोक्ष अ० ३२६ । २९)

अमेरिका से व्यास ऋषि ने अपने पुत्र शुकदेव को मोक्षधर्म का उपदेश लेने के लिए भारत में मिथिलापुरी में जनक के पास भेजा यात्रा के उन उन देशों का क्रमशः वर्णन है कि—

व्यास ऋषि ने ब्राह्मी श्री से युक्त ब्रह्मतुल्य, तेजवाले अपने पुत्र शुकदेव को मोक्षधर्म में विशारद, प्रवीण समझा और उसे कहा कि मिथिला के राजा जनक के पास जा, वह तेरे लिए समस्त मोक्षविषय को बतलायगा, यह सुनकर शुकदेव मिथिला को चल पड़े। मार्ग में मेरुवर्ष और हरिवर्ष इन दो देशों को पुनः हैमवत देश को क्रमशः लांघकर भारतवर्ष में आये, एवं वह चीन हूण जनों से सेवित भिन्न भिन्न देशों को देखते हुए आर्यावर्त देश में आये पिता के वचन को मानकर उसी लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए, उड़ते हुए पक्षी की भाँति आकाश मार्ग से यात्रा की।

राष्ट्र की पशुसम्पत्ति गाऐं—

रामराज्य में गायों की स्थिति—

सर्वा द्रोणदुघा गावो रामे राज्यं प्रशासति।
(महा० शान्ति० प० राजध० अ० २९ । ५८)

राम के राज्य काल में सारी गौऐं मनभर दूध देनेवाली थीं।

गौओं का स्थान राष्ट्र में सब धनों से ऊंचा है—

च्यवन ऋषि गङ्गा यमुना के सङ्गम के जल में बारह वर्ष से तप कर रहे थे, मछुओं ने जाल डाला तो मछलियों के साथ च्यवन ऋषि भी जाल में आगये, मछुए उस समय के राजा नहुष के पास च्यवन को लेगये, राजा ने च्यवन को कहा कि मैं आपका स्वागत करना चाहता हूँ। च्यवन ऋषि ने कहा कि इन मछुओं को मेरा

मूल्य दे दो। नहुष सहस्र रुपये देने लगे। च्यवन ने कहा—बुद्धि से सोचकर दो। नहुष लक्ष रुपये देने लगे। च्यवन बोले—अमात्यों से सम्मति करके दो। नहुष करोड़ रुपये देने लगे। च्यवन ने कहा—ब्राह्मणों से पूछकर दो। नहुष ब्राह्मणों से पूछ अर्धराज्य देने लगे, च्यवन ने कहा ऋषियों से पूछकर दो। नहुष चिन्ता में पड़ गये तो एक ऋषि ने कहा कि गौएं दी जावें, च्यवन ने स्वीकार किया, इस प्रकार गौ राष्ट्र की जनता की अमूल्य सम्पत्ति है। कहा भी है—

कीर्तनं श्रवणं दर्शनं चापि पार्थिव ! ।
गवां प्रशस्यते वीर सर्वपापहरं शिवम् ॥

(महा० अनुशासन प० अ० ५१। १०)

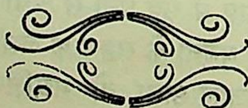
राजन् ! गौओं का गुणवर्णन, श्रवण और दर्शन, सब दोषों को दूर करनेवाला तथा कल्याणकर एवं प्रशंसनीय है।

राष्ट्र में धन की अनिवार्य आवश्यकता—

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः ।
यस्यार्थाः स पुमान् लोके यस्यार्थाः स च पण्डितः ॥

(महा० शान्ति प० राजधर्मानु० अ० ८। १४)

जिसके पास धन आदि सम्पत्ति साधन हैं उसके मित्र होते हैं, बान्धव होते हैं और वह संसार में श्रेष्ठ पुरुष तथा बुद्धिमान माना जाता है।



सप्तम पार्श्व

शिष्टाचार-व्यवहार संस्थान

शिष्टाचार—

जिस सम्बन्ध में अन्य की निन्दा करे देखे वह अपने में तो नहीं—

परेषां यदसूयेत न तत्कुर्यात् स्वयं नरः।
यो ह्यसूयुस्तथायुक्तः सोऽवहासं नियच्छति॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० २९० । २४)

दूसरे के प्रति जिस सम्बन्ध में निन्दा करे उसे स्वयं न करे जो अपने अन्दर वर्तमान हुए उस दोष को अन्य में होने पर निन्दा करता है वह उपहास को प्राप्त होता है।

पुरीषं यदि वा मूत्रं ये न कुर्वन्ति मानवाः।
राजमार्गे गवां मध्ये धान्य मध्ये च ते शुभाः॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष अ० १९३ । ३)

जो मनुष्य राजमार्ग में, गौओं के मध्य में, धान्य में, धान्यवाले खेत में मलमूत्र नहीं त्यागते हैं वे मनुष्य शुभ हैं, शिष्ट हैं।

सोने का शिष्टाचार—

अनायुष्यं दिवास्वप्नं तथाभ्युदितशायिता।
प्रगे निशामाशु तथा नैवोच्छिष्टाः स्वपन्ति वै॥

(महा० अनुशासन प० अ० १०४ । १३९)

दिन में सोना तथा सूर्योदय पर सोना, सायंकाल ही सोना आयु घटानेवाले हैं एवं उच्छिष्ट भी नहीं सोना चाहिये।

वृद्धों, बड़ों का सत्कार—

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थवर आयति ।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते ॥

(महा० उद्योग प० प्रजा० अ० ३८ । १)

वृद्धजन के आने पर छोटे के प्राण उखड़ जाते हैं, स्वागत के लिए उठने और अभिवादन करने से वह पुनः उन्हें प्राप्त कर लेता है।

दैनिक शिष्टाचार—

मातापितरमुत्थाय पूर्वमेवाभिवादयेत् ।
आचार्यमथवाप्यन्यं तथायुर्विन्दते महत् ॥४३, ४४॥
न भग्ने नावशीर्णे च शयने प्रस्वपीत च ।
नान्तर्धाने न संयुक्ते न च तिर्यक् कदाचन ॥ ४९ ॥
न नग्नः कर्हिचित् स्नायान्न निशायां कदाचन ।
स्नात्वा च नावमृज्येत गात्राणि सुविचक्षणः ॥ ५१ ॥
न चैवार्द्राणि वासांसि नित्यं सेवत मानवः ।
नोत्सृजेत पुरीषं च क्षेत्रे ग्रामस्य चान्तिके ॥ ५२ ॥
उभे मूत्रपुरीषे तु नाप्सु कुर्यात् कदाचन ।
निषण्णश्चापि खादेत न तु गच्छन् कदाचन ॥ ५४ ॥
मूत्रं नोत्तिष्ठता कार्यं न भस्मनि न गोव्रजे ।
आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादस्तु संविशेत् ॥ ६० ॥
आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो वर्षाणां जीवते शतम् ॥
अभिवादयीत वृद्धांश्च दद्याच्चैवासनं स्वयम् ॥ ६६ ॥
कृताञ्जलिरुपासीत गच्छन्तं पृष्ठतोऽन्वियात् ।
नैकवस्त्रेण भोक्तव्यं न नग्नः स्नातुमर्हति ॥ ६७ ॥
स्वप्तव्यं नैव नग्नेन न चोच्छिष्टोऽपि संविशेत् ।
केशग्राहं प्रहारांश्च शिरस्येतान् विवर्जयेत् ॥ ६८ ॥
वाते च पूतिगन्धे च मनसाऽपि न चिन्तयेत् ।
गुरुणा चैव निर्बन्धो न कर्तव्यः कदाचन ॥ ८० ॥

(महा० अनुशासन प० अ० १०४)

प्रथम ही उठकर माता-पिता को तथा आचार्य को या अन्य मान्यों को प्रणाम करे। टूटे हुए और पुराने पलंग आदि पर न सोए, न अन्धकार में पड़े (झिंगरे) पर न मिले हुए पर कभी न सोए। न कभी नंगा न कभी रात्रि में स्नान करे। स्नान करके अंगों को संशोधन या उबटना मर्दन आदि करे और न गीले वस्त्रों को पहने, मल को अन्न के खेत में ग्राम के पास में भी न छोड़े, जलों में भी मूत्र और और पुरीष न करे। बैठकर खावे, चलते हुए नहीं। खड़े होकर मूत्र न करना, न भस्म और गोशाला में, पैर गीले करके भोजन करे, गीले पैर सोए नहीं, गीले पैर खाता हुआ सौ वर्ष जीता है। बड़ों को प्रणाम करे और उन्हें स्वयं आसन दे, हाथ जोड़कर खड़ा रहे, जाते हुए पीछे चले। एक वस्त्र पहन खाना न चाहिए और न नंगा स्नान करे, नंगा न सोना चाहिए, और न झूठे मुख सोए। केश पकड़कर झगड़ना न चाहिए, और शिर में मारना भी नहीं चाहिए। दुर्गन्ध वायु में मन से चिन्तन न करना चाहिये। गुरु के साथ कभी बैर न रखना चाहिये।

गुरु के प्रति शिष्टाचार—

नाभुक्तवति चाश्नीयादपीतवति नो पिबेत्।
नातिष्ठति तथाऽऽसीत नासुप्ते प्रस्वपेत च॥
उत्तानाभ्यां च पाणिभ्यां पादावस्य मृदु स्पृशेत्।
दक्षिणं दक्षिणेनैव सव्यं सव्येन पीडयेत्॥
अभिवाद्य गुरुं ब्रूयादधीष्व भगवन्निति॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० २४२। २१,२३)

गुरु भूखा हो तो न खावे, प्यासा हो तो न पीवे, खड़े हुए गुरु के न बैठे, गुरु के न सोते हुए न सोवे, दाएं से दांया बाएं से बांया हाथ उठाकर गुरु के पैर छुए, गुरु को प्रणाम कर पढ़ाने की प्रार्थना करे।

अन्यथा चेष्टा न करनी चाहिए—

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलो मुनिः।
न च वागङ्गचपल इति शिष्टस्य गोचरः॥

(महा० आश्वमेधिक प० अ० ४५।१८)

हाथ, पाँव से चपल न हो, न नेत्र चपल हों। और न वाणी और अंगों से चपल हो यह शिष्ट का लक्षण है।

लोष्टमर्दी तृणच्छेदी नखखादी यो नरः।
नित्योच्छिष्टः संकुशुको नेहायुर्विन्दते महत्॥ १३॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० २०५।१३)

मिट्टी के ढेले को फोड़नेवाला, तिनका तोड़नेवाला, नाखून खानेवाला जो मनुष्य है तथा झूठे मुखवाला, स्थिर आयु प्राप्त नहीं करता है।

वृद्धों के प्रति वाग्व्यवहार शिष्टाचार—

त्वङ्कारं नामधेयं च ज्येष्ठानां परिवर्जयेत्।
अवराणां समानानामुभयेषां न दुष्यति॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० २०५।२५)

बड़ों के प्रति तू कहकर और उनका नाम लेकर बोलना छोड़ देना चाहिए, तथा छोटों और समान जनों के प्रति बोलना तो दोष नहीं है।

न जल्पन्ति च भुञ्जाना न निद्रान्त्यार्द्रपाणयः॥ ३६॥
वृद्धान्नाभिभवेज्जातु न चैतान् प्रेषयेदिति।
नासीनः स्यात् स्थितेष्वेवमायुरस्य न रिष्यते॥ ४६॥
न नग्नामीक्षेत नारीं न नग्नान् पुरुषानपि॥ ४७॥
न जातु त्वमिति ब्रूयादापन्नोऽपि महत्तरम्।
त्वङ्कारो वधो वेति विद्वत्सु न विशिष्यते॥ ५३॥

(महा० अनुशासन प० अ० १६२)

न खाते हुए बहुत बोले, गीले हाथ न सोना चाहिये, न कभी वृद्धों को दबावे, न इन्हें कहीं नौकर की भाँति भेजे। न बड़ों के खड़े हुए बैठे, क्योंकि इस प्रकार करने से आयु नष्ट होती है। नंगी स्त्री को न देखे, न नंगे पुरुषों को देखे और न कभी विपत्ति में बड़ों को तू कहकर बोले, तू कहने या मारने में विद्वान् भेद नहीं मानते।

उचित व्यवहार—

निर्बुद्धि दुर्बुद्धि सुबुद्धि जन के प्रति—

यस्य बुद्धिः परिभवेत् तमतीतेन सान्त्वयेत्।
अनागतेन दुर्बुद्धिं प्रत्युत्पन्नेन पण्डितम्॥

(महा० आदि० सम्भव० अ० १४०। ७४)

जिस मनुष्य की बुद्धि दब गई या मरगई, नष्ट हो गई हो, उसे पिछले अच्छे वृत्तान्त सुनाकर सान्त्वना देनी चाहिए, विपरीत बुद्धिवाले जन को भविष्य की सिद्धि आशा बतलाकर और बुद्धिमान् जन को वर्तमान की बात सुनाकर मार्ग पर लावे।

हितकर कटुभाषी दुर्लभ है—

लभते खलु पापीयान्नरो नु प्रियवागिह।
अप्रियस्य हि पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥

(महा० सभाप० द्यूतप० अ० ६४। १६)

मीठा बोलने वाला अहितकारी जन मिल सकता है परन्तु कटु हितवचन का बोलने वाला और सुनने वाला दुर्लभ है।

किन से विवाद न करे—

ऋत्विक् पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः।
वृद्धबालातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः॥
मातापितृभ्यां जामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया।
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत्॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० २४३। १४,१५)

ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य, मामा, अतिथि, शरणागत, वृद्ध, बाल, पण्डित, वैद्य, ज्ञाति, सम्बन्धी बान्धवजनों, माता, पिता, बहिन, भ्राता, पुत्र, स्त्री, पुत्री, और सेवक से विवाद न करे।

यथायोग्य व्यवहार—

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यस्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः।
मायाचारो मायया बाधितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः॥

(महा० शान्ति प० राजधर्म० अ० १०९। ३०)

जिस सम्बन्ध में जो मनुष्य जैसा वर्ताव करता है, उस सम्बन्ध में वैसा ही वह मनुष्य व्यवहार करे। नीतिवाले छली को नीति से, छल से बाधित करना चाहिए, सज्जन को सज्जनता से सेवन करे।

विश्वास की मर्यादा—

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नाति विश्वसेत्।
विश्वासाद् भयमुत्पन्नमपि मूलं निकृन्तति॥

(महा० शान्ति० आपद्ध० अ० १३९। २९)

अविश्वस्त मनुष्य में विश्वास न करे, अविश्वस्त में अति विश्वास न करे, विश्वास से भय-संकट सामने आकर जड़ काट देता है।

अपने समान सुख दुःख समझ दूसरे से व्यवहार—

जीवितं यः स्वयं चेच्छेत् कथं सोऽन्यं प्रघातयेत्।
यद् यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापिचिन्तयेत्॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० २५९। २२)

जो मनुष्य स्वयं जीना चाहता है वह कैसे दूसरे को मारता है। जो जो अपने लिए चाहता है, उसे उसको दूसरे के लिए भी सोचना चाहिए।

जिस सम्बन्ध में दूसरे की निन्दा करे, उस विषय में अपने को उससे दूर रखे—

परेषां यदसूयेत न तत्कुर्यात् स्वयं नरः।
यो ह्यसूयुस्तथायुक्तः सोऽवहासं नियच्छति॥
(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० २९० । २४)

अन्य की जिस विषय में निन्दा करे उसे स्वयं मनुष्य न सेवन करे जो निन्दा करनेवाला उस दोष से युक्त हो वह खिल्ली को प्राप्त होता है।

उपचार व्यवहार—

सुख व्यवहार—

अध्वक्लान्तस्य शयनं स्थानक्लान्तस्य चासनम्।
तृषितस्य च पानीयं क्षुधितस्य च भोजनम्॥
ईप्सितस्येव सम्प्राप्तिरन्नस्य समयेऽतिथेः।
एषितस्यात्मनः काले वृद्धस्येव सुतो यथा॥
मनसा चिन्तितस्येव प्रीतिः स्निग्धस्य दर्शनं
प्रह्लादयति॥
(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३५६ । २-४)

यात्रा से थके हुए को सोजाना, स्थानाभाव से थके हुए को स्थान मिल जाना, प्यासे को जल, भूखे को भोजन, अभीष्ट प्राप्तव्य की प्राप्ति या अन्न की भाँति समय पर अतिथि की प्राप्ति, खोजने योग्य की समय पर प्राप्ति, वृद्ध जन को जैसे पुत्र की प्राप्ति, मन से सोचे हुए की प्राप्ति और स्नेह युक्त का दर्शन प्रसन्न करता है।

मनुष्य स्वयं बन्धु और शत्रु है—

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।
(महा० अनुशासन प० अ० ६ । २७)

मनुष्य का स्वयं ही अपना आपा बन्धु है और अपना आपा ही शत्रु है।

आन्तरिक जीवन में सेवनीय तीर्थ—

अगाधे विमले शुद्धे सत्यतोमे धृतिह्रदे ।
स्नातव्यं मानसे तीर्थे सत्त्वमालम्ब्य शाश्वतम् ॥ ३ ॥
तीर्थं शौचमनर्थित्वमार्जवं सत्यमार्दवम् ।
अहिंसा सर्वभूतानामानृशंस्यं दमः शमः ॥ ४ ॥
निर्ममा निरहङ्कारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः ।
शुचयस्तीर्थभूतास्ते ये भैक्ष्यमुपभुञ्जते ॥ ५ ॥
तत्त्वविंत्वनहम्बुद्धिस्तीर्थप्रवरमुच्यते ॥ ६ ॥
सर्वत्यागेष्वभिरताः सर्वज्ञाः समदर्शिनः ।
शौचेन वृत्तशौचार्थास्ते तीर्थाः शुचयश्च ये ॥ ८ ॥
नोदकक्लिन्नगात्रस्तु स्नात इत्यभिधीयते ।
स स्नातो यो दमस्नातः स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः ॥ ९ ॥
अतीतेष्वनपेक्षा ये प्राप्तेष्वर्थेषु निर्ममाः ।
शौचमेव परं तेषां येषां नोत्पद्यते स्पृहा ॥ १० ॥
मनसा च प्रदीप्तेन ब्रह्मज्ञानजलेन च ।
स्नाति यो मानसे तीर्थे तत्स्नानं तत्त्वदर्शिनः ॥ १२ ॥

(महा० अनुशासन प० अ० १०८)

अगाध,विमल,शुद्ध,सत्यरूप, जलवाले धैर्यमय जलाशयरूप मानस तीर्थ में आत्मा को लेकर सदा स्नान करना चाहिए । शौच, अयाचना, ऋजुता, सत्य, मृदुता, सब प्राणियों में अहिंसा, दयाभाव, इन्द्रियदमन और शमन तीर्थ है । ममत्व रहित, अहंङ्कार रहित, द्वन्द्व-रहित, परिग्रहरहित, पवित्र भिक्षाचारी जन तीर्थरूप हैं । तत्त्ववेत्ता अहङ्काररहित जन उत्तम तीर्थ है । सभी त्यागों में तत्पर समझदार समदर्शी शौच से पवित्र व्यवहार वाले तीर्थ कहलाते हैं । दया से आर्द्र गात्र वाले जन को स्नान किया हुआ ही कहना चाहिए, जिसने दमन से

स्नान किया है वह बाहर भीतर से पवित्र है वही स्नान किये हुए है। गए हुओं में इच्छा न रखने वाला, प्राप्त हुओं में ममत्व-रहित जिन के अन्दर स्पृहा न उत्पन्न हो उनका ही शौच उत्तम है। जो मन से प्रकाशमान ज्ञान जल से मानस तीर्थ में स्नान करता है उसका ही स्नान यथार्थ है।

भक्त का त्याग श्रेष्ठ नहीं—

अनार्यमार्येण सहस्रनेत्र ! शक्यं कर्तुं दुष्करमेतदार्य ।
मा मे श्रिया सङ्गमनं तयाऽस्तु यस्याः कुले भक्तजनं त्यजेयम् ॥ ९ ॥
भीतिप्रदानं शरणागतस्य स्त्रियः वधो ब्राह्मणस्वापहारः ।
मित्रद्रोहस्तानि चत्वारि शक्र भक्त त्यागश्चैव समो मही मे ॥१६॥

(महा० प्रजानिक० अ०)

स्वर्ग में जाते समय इन्द्र ने युधिष्ठिर को कुत्ता साथ न लेजाने का आदेश दिया किन्तु युधिष्ठिर ने कहा कि भक्त का त्याग, अनार्य, कर्म, शुभ आर्य से होना दुष्कर है भले ही उस लक्ष्मी से सङ्गति न हो जिसके कारण भक्त को छोड़ना पड़े। क्योंकि शरणागत को भय देना, स्त्री का वध करना, ब्राह्मण का धन हरना, मित्रद्रोह करना, ये चारों बुरे काम भक्त के त्याग के बराबर हैं।

भृत्यों के प्रति व्यावहार—

न भृत्यानां वृत्तिसंरोधनेन राज्यं धनं सञ्जिघृक्षेदपूर्वम् ।
त्यजन्ति ह्येनं वञ्चिता वै विरुद्धाः स्निग्धा ह्यमात्याः परिहीनभोगाः ॥

(महा० उद्योगप० प्रजा० अ० ३७ । २३)

भृत्यों-नौकरों की आजीविका को रोककर राज्य कोश में अधिक धन संग्रह न करे, ऐसे संग्रहकर्त्ता शासक को उससे वञ्चित हुए, स्नेह रखने वाले मन्त्री भी भोगों से रहित होकर, विरोधी होकर त्याग देते हैं।

नमस्ते का व्यवहार—

एवमस्तु नमस्तेऽस्तु पुत्रस्नेहात्प्रशाधि माम्।
स्नुषया पूज्यमाना वै देवि वत्स्यसि नित्यदा ॥

(महा० वनप० मार्कण्डेय० अ० २३०। १३)

अच्छा नमस्ते तो पुत्र स्नेह से मुझे आदेश करें, स्नुषा (पुत्रवधू) से पूजी जाती हुई देवी नित्य साथ रहेगी।

कुरु कार्याणि धर्म्माणि नमस्ते पुरुषर्षभ !।

(महा० आश्वमेधिकप० अ० १०। ५०)

धर्म सम्बन्धी कार्य कर हे पुरुषर्षभ युधिष्ठिर ! नमस्ते हो।

प्रसिद्धियाँ—

जरा आदि रूप आदि को नष्ट कर देते हैं—

जरा रूपं हरति हि धैर्यमाशां मृत्युः प्राणान् धर्मचर्यामसूया।
क्रोधः श्रियं शीलमनार्यसेवा ह्रियं कामः सर्वमेवाभिमानः॥

(महा० उद्योगप० प्रजा० अ० ३५। ५०)

जरा (बुढ़ापा) रूप-सौन्दर्य को नष्ट कर देता है आशा धैर्य को, मृत्यु प्राणों को, निन्दा धर्माचरण को नष्ट कर देती है। क्रोध शोभा को, अनार्य सेवा शील को, कामवेग लज्जा को और अभिमान सब गुणग्राम को नष्ट कर देता है।

श्रेष्ठ के पीछे अन्य जन चलते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

(महा० भीष्म० भगवद्गीता अ० २७ (३) २०)

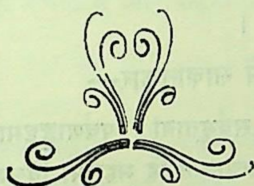
जिस जिस कार्य का श्रेष्ठजन आचरण करता है उस उसको साधारण जन सेवन करता है श्रेष्ठ जन जिसे प्रमाण मानता है, संसार उसके पीछे चलता है।

प्रथा—

ताली बजाकर प्रसन्नता प्रकट करना—

उन्मत्तमिव मातङ्गं तालशब्दैर्नराधिपाः।
भूयः सहर्षमाचक्रुर्दुर्योधनममर्षणम् ॥
(महा० शल्प प० गदाप० अ० ५६ । ४४)

गदायुद्ध में उन्मत्त हाथी जैसे असह्य दुर्योधन को देख राजा लोगों ने तालियों के शब्दों से बहुत हर्ष प्रकट किया।



अष्टम पार्श्व

ईश्वर-जीव-प्रकृति संस्थान

ईश्वर का स्वरूप—

तत्र यः परमात्मा हि सः नित्यं निर्गुणः स्मृतः ।
स हि नारायणो ज्ञेयः सर्वात्मना पुरुषो हि सः ॥
न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा ।
कर्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते ॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३५१ । १४, १५)

परमात्मा नित्य निर्गुण है वह नारायण सर्वात्मा पुरुष कहलाता है। वह कर्मफलों से सम्पर्क नहीं रखता जैसे कमल पत्र जल के सम्पर्क से रहित रहता है। अन्य जीव कर्म परायण है जो मोक्ष और बन्धों से युक्त होता है।

ईश्वर का हृदय में साक्षात्कार—

हृदयं सर्वभूतानां पर्वणाङ्गुष्ठमात्रकः ।
अथ ग्रसत्यनन्तो हि महात्मा विश्वमीश्वरः ॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३१२ । १५)

सब प्राणियों के हृदय में अङ्गुष्ठ पर्वमात्र ईश्वर दृष्ट होता है वह ईश्वर अनन्त है जो विश्व को अपने अन्दर ग्रहण करता है।

सांख्यसिद्धान्त में ईश्वर स्वीकार—

अत्र ते संशयो मा भूज्ज्ञानं साङ्ख्यं परं मतम् ।
अक्षरं ध्रुवमेवोक्तं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥ १०१ ॥
अनादिमध्यनिधनं निर्द्वन्द्वं कर्तृशाश्वतम् ।
कूटस्थं चैव नित्यं च यद् वदन्ति मनीषिणः ॥ १०२ ॥

सांख्यं विशालं परमं पुराणं महार्णवं विमलमुदारकान्तम् ।
कृत्स्नं च सांख्यं नृपते महात्मा नारायणो धारयतेऽप्रमेयम् ॥११४॥
एतन्मयोक्तं नरदेव तत्त्वं नारायणो विश्वमिदं पुराणम् ।
स सर्गकाले च करोति सर्गं संहारकाले च तदत्ति भूयः ॥ ११५ ॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३०१)

भीष्म पितामह युधिष्ठिर को उपदेश देते हैं कि हे युधिष्ठिर ! इस विषय में तेरे अन्दर संशय न रहे, सांख्य ज्ञान ऊँचा माना गया है। अक्षर 'ओ३म्' अथवा अविनाशी ब्रह्म ध्रुव पूर्ण सनातन है, आदि मध्य रहित है, निर्द्वन्द्व, शाश्वत कर्ता है, स्थिर नित्य जिसे मनीषी कहते हैं, सांख्य विशाल, महान् पुरातन, महासमुद्र रूप विशाल विस्तृत और प्रकाशमान है, उस ऐसे समस्त सांख्य को नारायण धारण करता है। मैंने जो तत्त्व नारायण कहा है यह इस विश्व को सर्गकाल में रचता है और संहार काल में अपने अन्दर संहार करता है।

तथा—

निःसङ्गात्मानमासाद्य षड्विंशकमजं विभुम् ।
विभुस्त्यजति चाव्यक्तं यदा त्वेतद् विबुध्यते ॥ २० ॥
विशुद्धधर्मा शुद्धेन बुद्धेन च स बुद्धिमान् ।
विमुक्तधर्मा मुक्तेन समेत्य पुरुषर्षभ ! ॥ २७ ॥
विमलात्मा च भवति समेत्य विमलात्मना ॥ २९ ॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३०८)

निःसङ्गात्मा छब्बीसवें पदार्थ अजन्मा विभु ईश्वर को प्राप्त होकर जीव अव्यक्त प्रकृति को छोड़ देता है, जब इसे समझ लेता है। बुद्धिमान् जीव शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, विमलरूप परमात्मा से समागम करके विशुद्ध धर्मी, विमुक्तधर्मी और विमल रूप हो जाता है।

ईश्वर का अवतार नहीं, अवतार खण्डन—

श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर के चरण धोए—

ततोऽभिवाद्य गोविन्दः पादौ जग्राह धर्मवित् ।
उत्थाप्य धर्मराजस्तु मूर्ध्न्युपाघ्राय केशवम् ॥
पाण्डवो यादवश्रेष्ठं कृष्णं कमललोचनम् ।
गम्यतामित्यनुज्ञाप्य धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥

(महा० सभाप० सभा पर्व० अ० २ । २३, २४)

तब धर्मवेत्ता कृष्ण ने युधिष्ठिर के पाँव पकड़े, चरण-वन्दन किया । युधिष्ठिर ने कृष्ण को उठाकर मूर्धा में सूंघ कर जाने की अनुमति दी ।

कृष्ण ईश्वर का अवतार हों और युधिष्ठिर के चरण छुएं तथा युधिष्ठिर उनसे चरण छुआएं यह विपरीत है ।

कृष्ण को ऋषि कहा है—

तावन्योऽन्यं समाश्लिष्य पृष्ट्वा च कुशलं वने ।
आस्तां प्रियसखायौ तौ नरनारायणावृषी ॥

(महा० वनपर्व अ० २१९ । ५)

उन दोनों ने अन्योऽन्य परस्पर वन में आलिङ्गन कर और कुशल पूछकर दोनों प्रिय मित्र नर, नारायण ऋषि बैठ गए ।

यहाँ अर्जुन और कृष्ण को ऋषि कहा है । ईश्वर का अवतार नहीं । मनुष्यों में ऊँचा विद्वान् ऋषि कहलाता है ।

कृष्ण का नारायण नाम वंशज है ईश्वर के अवतार के कारण नहीं—

मत्संहननतुल्यानां गोपानामर्बुदं महत् ।
नारायणा इति ख्याताः सर्वे संग्रामयोधिनः ॥

(महा० उद्योगप० प्रजा० अ० ७ । १८, २४)

मेरे जैसे प्रहार करने वाले सहस्रों गोप (ग्वाले, यादव) जो नारायण कहलाते हैं सब संग्राम में लड़नेवाले हैं।

यहाँ कृष्णजी के वंशजों को नारायण कहा है अतः कृष्णजी का भी नारायण कहा जाना वंशज दृष्टि से है ईश्वर का अवतार होने के कारण नहीं, एवं वे ईश्वर का अवतार न थे।

कृष्ण द्वारा पुण्य की इच्छा करना—

अहापयन् पाण्डवार्थं यथावच्छमं कुरूणां यदि चाचरेयम्।
पुण्यं च मे स्याच्चरितं महात्मन् ॥

(महा० भगवद्यानप० अ० ८४ । ११)

पाण्डवों के अभीष्ट एवं हित को न छोड़ते हुए कुरुवंशजों की यथावत् शान्ति का मैं यदि आचरण करूँ तो मेरे लिए पुण्य हो।

इस प्रकार कृष्ण द्वारा पुण्य की चाहना करने से, कृष्ण पुण्य पाप कर्म में आने से ईश्वर का अवतार नहीं थे, मनुष्य थे।

कृष्ण का बारंबार जन्म होना—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ! ॥

(महा० भीष्मप० [भगवद्गीता] अ० २७ । २०)

हे अर्जुन मेरे और तेरे बहुत जन्म हुए हैं मैं तो अपने सब जन्मों को जानता हूँ, तू नहीं जानता है।

अर्जुन की भाँति कृष्ण का पुनः पुनः जन्मना उसे ईश्वर नहीं अपितु जीव सिद्ध करते हैं।

कृष्ण ने ब्रह्म का ध्यान किया—

ततः शयनमाविश्य प्रसुप्तो मधुसूदनः।
यामेमात्रार्धशेषायां यामिन्यां प्रत्यबुध्यत ॥

स ध्यानपथमाविश्य सर्वज्ञानानि माधवः ।
अवलोक्य ततः पश्चाद्दध्यौ ब्रह्मसनातनम् ॥
(महा० शान्ति प० राजध० अ० ५३ । १—२)

कृष्णजी बिस्तरे पर सो गये, आधा प्रहर रात्रि रहने पर जागे। पुनः सब ज्ञान और ध्यान के मार्ग-साधन खोले, आसन जमाकर सनातन ब्रह्म का ध्यान किया।

कृष्ण द्वारा ब्रह्म का ध्यान विधिपूर्वक करने से कृष्णजी ब्रह्म नहीं थे, ऐसा सिद्ध होता है।

कृष्ण ने ईश्वर की स्तुति की—

युगे युगे तु कृष्णेन तोषितो वै महेश्वर. ।
भक्त्या परमया चैव प्रीतश्चैव महात्मनः ॥
(महा० अनुशासनप० अ० १४ । १३)

कृष्ण के मुख से ईश्वर गुण वर्णन—

तस्याहमसुरघ्नस्य कांश्चिद् भगवतो गुणान् ।
भवतां कीर्तयिष्यामि व्रतेशाय यथातथम् ॥ २४ ॥
यदवाप्तं च मे पूर्वं साम्बहेतोः सुदुष्करम् ।
यथावद् भगवान् दृष्टो मया पूर्वं समाधिना ॥ २७ ॥
(महा० अनुशासनप० अ० १४)

कृष्णजी कहते हैं कि मैं उस दुष्ट नाशक व्रतेश भगवान् के गुण आप को सुनाता हूँ जिस ब्रह्म को मैंने प्राप्त किया है और भगवान् को समाधि से देखा है।

कृष्ण द्वारा ईश्वर की स्तुति, गुण वर्णन किया जाना एवं समाधि से साक्षात् किया जाना, इससे कृष्णजी ईश्वर नहीं थे, ईश्वर का अवतार नहीं थे यह सिद्ध होता है।

उपमन्यु से विधि सीखकर कृष्ण ने ईश्वर की उपासना की—

एवं दृष्टो मया कृष्ण देवदेवः समाधिना ।
अपि तावमयाप्येवं दद्यात्स भगवाञ्छिवः ॥
दर्शनं मुनिशार्दूल प्रसादं चापि शङ्करः ॥ ३७० ॥
षष्ठे मासि महादेवं द्रक्ष्यसे पुरुषोत्तम ! ॥ ३७२ ॥

(महा०, अनुशासन प०, अ० १४)

कृष्णजी से उपमन्यु ने कहा—'हे कृष्ण ! इस प्रकार मैंने समाधि द्वारा परमदेव परमात्मा का साक्षात् किया।' यह सुन कृष्णजी बोले कि हे मुनि ! मुझे भी वह शिव-शङ्कर भगवान् दर्शन और प्रसाद प्रदान करें। इस पर उपमन्यु ने कहा—हे कृष्ण ! छठे मास में महादेव के दर्शन करोगे।

इस प्रकार उपमन्यु से ईश्वर की उपासना वधि सीखकर परमेश्वर के दर्शन की कृष्णजी द्वारा इच्छा करने और दर्शन करने की चर्चा से कृष्ण ईश्वर या ईश्वर का अवतार नहीं थे।

कृष्ण ने उपमन्यु से किस प्रकार परमेश्वर दर्शन की विधि सीखी—

दिनेऽष्टमे तु विप्रेण दीक्षितोऽहं यथाविधि ।
दण्डी मुण्डी कुशी चीरी घृताक्तो मेखलीकृतः ॥
मासमेकं फलाहारो द्वितीये सलिलाशनः ।
तृतीयं च चतुर्थं च पञ्चमं चानिलाशनः ।
एकपादेन च तिष्ठंश्च च ऊर्ध्वबाहुरतन्द्रित ॥
तेजःसूर्यसहस्रस्य अपश्यं दिवि भारत ।
ईक्षितुं च महादेवं न मे शक्तिरभूत् तदा ॥

(महा० अनुशासनप० अ० १४ । ३८०—३२, ४०)

हे युधिष्ठिर ! उपमन्यु ने आठवें दिन यथाविधि दीक्षित किया

मुझे दण्डी, मुण्डी, कुशासनवाला, चीरवाला, चौलवाला घृत से चिकना मेखलावाला, पुनः एक मास फलाहारी, दूसरे मास जलाहारी तृतीय, चतुर्थ, पाँचवे मास पवनाहारी बना एक पैर से खड़े हुए, ऊपर भुजाएँ किए हुए आलस्य रहित हो, सहस्र सूर्यों के तेजवाले महादेव को देखने में मेरी शक्ति उस समय न हो सकी।

इस प्रकार कृष्ण द्वारा तपस्या और परमेश्वर दर्शन होने से कृष्णजी स्वयं ईश्वर या ईश्वर का अवतार नहीं थे।

कृष्ण ने महेश्वर से (अयुक्त) वर माँगा—

मूर्ध्ना निपत्य नियतस्तेजः सन्नियमे ततः ।
परमं हर्षमागत्य भगवन्तमथाब्रुवम् ॥ १ ॥
धर्मे दृढत्वं युधि शत्रुघातं यशस्तथाग्र्यं परमं बलं च ।
योगप्रियत्वं तव सन्निकर्षं वृणे सुतानां च शतं शतानि ॥ २ ॥
भार्यासहस्राणि च षोडशैव तासु प्रियत्वं च तथाऽक्षमं च ॥७॥
प्रीतिं चाग्र्यां बान्धवानां सकाशाद् ददामि तेऽहं वपुषः
काम्यतां च ॥ ८ ॥

(महा० अनुशासनप० अ० १५)

कृष्णजी ने महेश्वर के आगे अपने को समर्पित कर सम्भल कर तेज को सहन किया। परमहर्ष को प्राप्त हो भगवान् महेश्वर को बोले। मेरे लिए वह धर्म में दृढ़ता, युद्ध में शत्रु का हनन, उत्तम यश, परम बल, योग में प्रीति, तेरी समीपता, दश सहस्र पुत्र माँगता हूँ। तथा सोलह सहस्र पत्नियाँ, उन में प्रीति, बन्धवों से उत्तम प्रीति शरीर की कमनीयता ये सब तेरे लिए देता हूँ।

इस प्रकार कृष्ण द्वारा वर याचना से कृष्णजी ईश्वर या ईश्वर का अवतार नहीं हो सकते। इस पर भी अयुक्त विरोधी वर याचना।

कृष्णजी का स्वर्ग में जाना और अपनी १६ सहस्र स्त्रियों द्वारा सेवा कराना—

षोडशस्त्रीसहस्राणि वासुदेवपरीवृताः ।
ताश्चैवोप्सरसो भूत्वा वासुदेवमुपाविशन् ॥
(महा० स्वर्गारोहणप० अ० ५ । २५,२६)

स्वर्ग में कृष्णजी की १६ सहस्र स्त्रियाँ अप्सराएँ बनकर कृष्णजी को प्राप्त हुईं ।

इस स्वर्ग में कृष्णजी का जाना और अपनी १६ सहस्र स्त्रियों का प्राप्त करना, कृष्णजी को ईश्वर या ईश्वर का अवतार लेना सिद्ध नहीं करता ।

राम यौगिक ढंग से ईश्वर या योग में आश्रयणीय देव का वाचक नहीं—

वृद्धाभिश्चापि रामाभिः परिचारार्थमावृतम् ।
(महा० आश्वमेधिक प० अ० ६८ । ६)

वृद्ध रामाओं—रमणभोग की साधनभूत स्त्रियों से सेवार्थ घिरे हुए थे ।

यहाँ भोगविलास की साधनभूत स्त्री को रामा कहने से रामा का अर्थ भोगविलास के साधनभूत या भोगविलास करनेवाले का नाम पुरुष वाचक राम होता है अतः शिष्टाचार से ईश्वर का नाम राम नहीं हो सकता ।

जीव—

जीव अमर और नित्य है—

सर्वगात्रानुगतोऽन्तरात्मा स वेत्ति दुःखानि सुखानि चात्र ।
तद्विप्रयोगान्तु न वेत्ति देहः ॥ २० ॥
न जीवनाशोऽस्ति हि देहभेदे । मिथ्यैतदाहुर्मृत इत्यबुद्धाः ।
जीवस्तु देहान्तरितः प्रयाति ।
दशार्धतैवास्य शरीरभेदः ॥ २७ ॥
(महा० शांति प० मोक्ष० अ० १ :)

सब शरीराङ्गों में प्राप्त अन्तरात्मा वह दुःखों और सुखों को जानता है उसके वियोग से देह नहीं जानता है, देह नाश पर जीव का नाश नहीं होता मर गया, ऐसा अज्ञजन मिथ्या ही कहते हैं। जीव तो दूसरे देह में चला जाता है, इसके शरीर का विभाग आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी इन पाँच तत्त्वों में होजाता है।

देह गृह के समान है जीव अमर होता हुआ नये नये शरीर धारण करता है—

हित्वा हित्वा ह्ययं प्रैति देहाद् देहं कृताश्रयः।
कालसंचोदितः क्षेत्री विशीर्णाद् वा गृहाद् गृहम्॥
(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० २७५। ३३)

काल से प्रेरित हो देह को पुनः पुनः त्यागकर जीव एक शरीर से दूसरे शरीर को प्राप्त होता है जैसे पुराने घर को छोड़ नवीन घर को मनुष्य प्राप्त होता है।

पुनर्जन्म—

ऊँच नीच योनि में जाना—

कामक्रोधसमायुक्तो हिंसालोभसमन्वितः।
मनुष्यत्वात् परिभ्रष्टस्तिर्यग्योनौ प्रसूयते॥
तिर्यग्योन्याः पृथग्भावो मनुष्यार्थे विधीयते।
गवादिभ्यस्तथाऽश्वेभ्यो देवत्वमपि दृश्यते॥
(महा० वनप० अजागरप० अ० १८१। २१३)

कामक्रोध से युक्त हिंसा लोभ सहित जन मनुष्यत्व से गिरा हुआ तिर्यग् योनि में उत्पन्न होता है और तिर्यग् योनि से छूटकर मनुष्य योनि में आता है। गौओं और घोड़ों से भी देवत्व प्राप्ति देखी जाती है।

कर्मरूप अङ्कुर से पुनर्जन्म—

यथा क्षेत्रं मृदूभूतमद्भिराप्लावितं तथा।
जनयत्यङ्कुरं कर्म नृणां तद्वत्पुनर्भवेत्॥
(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३२०। ३२)

जैसे खेत नरम हुआ, जल से सींचा हुआ अङ्कुर उत्पन्न करता है। वैसे कर्मरूप अङ्कुर पुनर्जन्म को उत्पन्न करता है।

जीव एक शरीर छोड़ते ही तुरन्त पुनर्जन्म धारण करता है—

जीवः कर्मसमायुक्तः शीघ्रं रेतस्त्वमागतः।
स्त्रीणां पुष्पं समासाद्य सूते कालेन भारत!॥
(महा० अनुशासन प० अ० १११। ३५)

जीव कर्मानुसार तुरन्त रेतस्त्व-बीज भाव पाकर एक शरीर से दूसरे शरीर के लिए स्त्रियों के पुष्प-गर्भ पुष्प को प्राप्त करके समय पाकर उत्पन्न होता है।

पुनः पुनः जन्म मरण—

पुनः पुनश्च मरणं जन्म चैव पुनः पुनः।
आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः॥
मातरो विविधा दृष्टाः पितरश्च पृथग्विधाः॥
(महा० आश्वमेधिक प० अ० १६। ३२)

मरण और जन्म पुनः पुनः देखा, आहार-भोजन नानाप्रकार के खाए, भिन्न भिन्न स्तन पीये, माताएँ नाना प्रकार की देखीं और पिता भी भिन्न भिन्न देखे।

जीवात्मा से शरीर वृद्धि—

यथा दीपः शरणे दीप्यमानः प्रकाशते।
एवमेव शरीराणि प्रकाशयति चेतना॥
(महा० आश्वमेधिक प० अ० १८। ११)

जैसे शरण स्थान को दीपक प्रकाशित करता है इसी भाँति चेतन आत्मा-जीव शरीराङ्गों को प्रकाशित करता है।

शरीर एवं शरीराङ्गों का विकाश जीव प्रवेश से ही होता है।

वृक्षों में जीव—

ब्रह्मादिषु तृणान्तेषु भूतेषु परिवर्तते।
जले भुवि तथाकाशे जायमानः पुनः पुनः॥

(महा० वनप० अ० २। ७२)

ब्रह्मा से लेकर तृण वनस्पति पर्यन्त वस्तुओं में जीव पुनः पुनः उत्पन्न होने के हेतु जल में, भूमि में, आकाश में जाता है।

मोक्ष या मुक्ति—

ब्रह्मसम्पत्ति—

यदा चायं न बिभेति यदा चास्मान्न बिभ्यति।
यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥

(महा० शान्ति प० राजधर्म० अ० २६। १४)

जब यह मनुष्य भयरहित हो जाता है और अन्य को भी इससे भय नहीं रहता है। तथा जब न राग करता है, न द्वेष करता है तब ब्रह्म को प्राप्त होता है।

अभय आदि—

न बिभेति परो यस्मान्न बिभेति पराच्च यः।
यश्च नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा †॥ ३३॥
यदा भावं न कुरुते सर्वभूतेषु पापकम्।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ ३४॥
संयोज्य मनसाऽऽत्मानमीर्ष्यामुत्सृज्य मोहनीम्।
त्यक्त्वा कामं च मोहं च तदा ब्रह्मत्वमश्नुते॥ ३५॥

† (महा० शांति प० मोक्ष० ७४। ५२)

यदा श्राव्ये च दृश्ये च सर्वभूतेषु चात्ययम् ।
समो भवति निर्द्वन्द्वो ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ३६ ॥
यदा स्तुतिं च निन्दां च समत्वेनैव पश्यति ।
काञ्चनं चायसं चैव सुखं दुःखं तथैव च ॥ ३७ ॥
शीतमुष्णं तथैवार्थमनर्थं प्रियमप्रियम् ।
जीवितं मरणं चैव ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ३८ ॥
(महा० शांति० प मोक्ष० ३२६)

जिस से दूसरा भय न खावे, और जो दूसरे से न डरे, और जो न राग रखे, न द्वेष रखे वह ब्रह्म को प्राप्त होता है। जब सब प्राणियों के प्रति मनुष्य मन वचन कर्म से पाप भाव नहीं करता तब ब्रह्म को प्राप्त करता है। मनुष्य जब मन से आत्मा को संयुक्त कर मूढ बनाने वाली ईर्ष्या को छोड़कर तथा काम भाव और मोह को छोड़कर स्थिर होता है तब ब्रह्म को प्राप्त करता है। जब यह मनुष्य शब्द विषय रूप विषय सब प्राणियों में समान निर्द्वन्द्व हो जाता है तब ब्रह्म को प्राप्त होता है। जब मनुष्य अपनी प्रशंसा और निन्दा को समानता से देखता है (सुनकर न हर्ष न शोक होता है) सोने और लोहे को तथा सुख और दुःख को समानता से देखता है तब ब्रह्म को प्राप्त होता है। शीत, उष्ण, अनर्थ, अर्थ, प्रिय, अप्रिय, जीवन, मरण को समानता से देखता है तब ब्रह्म को प्राप्त होता है।

ज्ञान से मोक्ष—

ज्ञानान्मोक्षो जायते राजसिंह ! नास्त्यज्ञानादेवमाहुर्नरेन्द्र ! ।
तस्माज्ज्ञानं तत्त्वतोऽन्वेषितव्यं येनात्मानं मोक्षयेज्जन्ममृत्योः ॥
(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३१८ । ८७)

हे राजन् ! ज्ञान से मोक्ष होता है, अज्ञान से नहीं, ऐसा कहते हैं। इसलिए ज्ञान वास्तविक रूप में प्राप्त करना चाहिए जो जन्म और मृत्यु से अपने को मुक्त कर सके।

जितेन्द्रिय संयमी शान्त योगी मोक्ष का अधिकारी—

इन्द्रियैरिन्द्रार्थान् यश्चरत्यात्मवशैरिह ।
असज्जमानः शान्तात्मा निर्विकारः समाहितः ।।
आत्मभूतैरतद्भूतः सह चैव विनैव च ।
स विमुक्तः परं श्रेयो न चिरेणाधितिष्ठति ॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३२९ । १७, १८)

जो मनुष्य स्वाधीन इन्द्रियों से इन्द्रियार्थों का सेवन करता है, ऐसा असक्त, शान्तात्मा, मनोविकार रहित, समाहित तथा अपने बन्धुओं में भी अलग सा रहता हुआ या न साथ रहता हुआ जन हो वह विमुक्त परम श्रेय को शीघ्र प्राप्त करता है।

समभाव से मुक्तावस्था—

जीवितं मरणं चोभे सुखदुःखे तथैव च ।
लाभालाभे प्रियद्वेष्ये यः समः स च मुच्यते ।।
न कस्य चित् स्पृहयते नावजानाति किञ्चन ।
निर्द्वन्द्वो वीतरागात्मा सर्वथा मुक्त एव सः ॥

(महा० अश्वमेधिकप० अ० १९ । २२)

जीवन-मरण, सुख दुःख, लाभ अलाभ, प्रिय अप्रिय दोनों में जो समभाव रखता हो, न किसी का स्वागत, न किसी का अनादर करे, वह निर्द्वन्द्व वीतराग जन सर्वथा मुक्त है।

जल आदि में जीव-योनियाँ—

उदके बहवः प्राणाः पृथिव्यां च फलेषु च ।
सूक्ष्मयोनीनि भूतानि तर्कगम्यानि कानिचित् ॥

(महा० शान्ति प० राजधर्म० अ० १६ । २५)

जल में बहुत जीव-योनियाँ हैं, भूमि में और फलों में भी हैं। कुछ सूक्ष्म योनिवाले प्राणी तो तर्क से ही जानने योग्य हैं वे दृश्य नहीं हैं।

मृत शरीर (शव) का दाह कर्म—

ततः शरीरे रामस्य वासुदेवस्य चोभयोः ।
अन्विष्य दाहयामास पुरुषैराप्तकारिभिः ॥
(महा० मौसलप० अ० ८ । ३३)

अर्जुन ने बलराम और कृष्ण के शरीरों को खोज कर विद्वान् ब्राह्मणों के द्वारा उनका दाह संस्कार कर दिया ।

प्रकृति (जगत् का उपादान कारण)—

अलिङ्गात्प्रकृतिर्लिङ्गैरुपालभ्यति आत्मजै
र्यथापुष्पफलैर्नित्यमृतवोऽमूर्तयस्तथा ॥
(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३०५ । २६)

अलिङ्ग प्रकृति-जगत् का कारण प्रकृति जो अलिङ्ग अर्थात् अव्यक्त है, वह सिद्ध होती है जैसे अपने फलफूलों से अमूर्त, अदृश्य ऋतुएँ जानी जाती हैं ।

सृष्टि तथा सृष्टि का प्रवाह से अनादि—

एतां सृष्टिं विजानीहि कल्पादिषु पुनः पुनः ।
यथा सूर्यस्य गगनादुदयास्तमने इह ॥
(महा० शान्ति प० मोक्ष अ० ३३९ । ७५)

इसे सृष्टि जानो, कल्प आदि उत्पत्ति स्थिति कल्पों में पुनः पुनः होती है जैसे आकाश में सूर्य का उदय और अस्त पुनः पुनः होता है ।

इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति तथा उसका प्रवाह—प्रवाह से अनादि होना दर्शाया है ।

प्रावाहिक प्रसिद्धियाँ विषमताएँ—

संयोग वियोगान्त आदि—

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।
संयोगाः विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम् ॥
(महा० शान्ति प० राजधर्म० अ० २७ । ३१)

सब सञ्चय क्षय होने वाले हैं, ऊँचे उठे हुए स्थान अन्त में गिरने वाले हैं, संभोग वियोगान्त हैं और जीवन का अन्त अर्थात् मरण है।

संसार विनाशान्त और अनित्य है—

सर्वे क्षयान्ताः निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगाश्च वियोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्॥
सर्वं कृतं विनाशान्तं जातस्य मरणं ध्रुवम्।
अशाश्वते हि लोकेऽस्मिन् सदा स्थावरजङ्गमम्॥

(महा० अश्वमेधिकप० अ० ४४। १९—२०)

सब सञ्चय क्षय होनेवाले हैं, ऊँचे उठे हुए स्थान अन्त में गिरते हैं, संयोग वियोगान्त हैं और जीवन का अन्त मरण है। सब कार्य वस्तु विनाशान्त हैं उत्पन्न हुए प्राणी शरीर का मरना निश्चित है। इस लोक में स्थावर और जङ्गम सदा नित्य नहीं है, अस्थिर हैं।

यौवन आदि षट्सम्पत्ति अनित्य हैं—

अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं द्रव्यसञ्चयः।
आरोग्यं प्रियसंवासो गृध्येत्तत्र न पण्डितः॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० २०५। ४)

यौवन, रूप, जीवन, धनअन्नादि सञ्चय, आरोग्य-स्वास्थ्य, प्रियजन समागम ये छः अनित्य हैं, सदा नहीं बने रहते हैं अतः विद्वान् को इनमें गर्ध-राग न करना चाहिये।



नवम पार्श्व

धर्म-कर्म-संस्थान

धर्म का स्वरूप—

एष धर्मो महायोगो दानभूतदया तथा।
ब्रह्मचर्यं तथा सत्यमनुक्रोशो धृतिः क्षमा।
सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतत्सनातनम् ॥

(महा० अश्वमे० अ० ९१। ३२, ३३)

यह सार्वभौम धर्म है जो कि दान, प्राणिदया, ब्रह्मचर्य, सत्य, अहिंसा, धैर्य, क्षमा का सेवन करना है। यह सनातन धर्म का सनातन मूल है।

धर्म का नाम वृष—

वृषो हि भगवान् धर्मो.... ।

(महा० शान्ति प० राजध० अ० ९० । १५)

भगवान् धर्म वृष है, सुख का वर्षक होने से।

वृषो हि भगवान् धर्मः ख्यातो लोकेषु भारत ! ॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३४२ । २८)

भगवान् धर्म लोक में वृष नाम से प्रसिद्ध हैं।

धर्म सदा हि सेवनीय है—

न धर्मकालः पुरुषस्य निश्चितो न चापि मृत्युः पुरुषं प्रतीक्षते।
सदा हि धर्मस्य क्रियैव शोभना यदा नरो मृत्युमुखेऽभिवर्तते ॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० २९८ । १७)

धर्माचरण का समय मनुष्य के लिए निश्चित नहीं, मृत्यु मनुष्य की प्रतीक्षा नहीं करती। अतः धर्म का आचरण करना सदा ही शोभनीय है जब कि मनुष्य मृत्यु के मुख में पड़ा है।

युवावस्था से ही धर्म परायण होना चाहिए—

को हि जानाति कस्याद्य मृत्युकालो भविष्यति।
युवैव धर्मशीलः स्यादनित्यं खलु जीवितम्॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० १७५)

कौन जानता है कि किसका आज मृत्युकाल होगा, युवावस्था से ही धर्मशील होना चाहिए क्योंकि जीवन अनित्य है।

यतो धर्मस्ततो जयः—

उक्तवानस्मि दुर्बुद्धिं मन्दं दुर्योधनं तदा।
यतः कृष्णस्ततो धर्मो यतो धर्मस्ततो जयः॥

(महा० अनुशासन प० अ० १६७। ४०—४१)

भीष्म पितामह कृष्णजी से कहते हैं कि दुर्बुद्धि दुर्योधन को मैं कह चुका हूँ जिस पक्ष से कृष्ण खड़े होंगे उस ओर से धर्म की प्रवृत्ति होगी और जिस ओर से धर्म का व्यवहार होगा उस ओर जय घोष होगा।

धर्म नित्य है इसका त्याग न करना चाहिये—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुख दुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

(महा० स्वर्गारोहण प० अ० ५। ६३)

कभी कामवासना से, भय से, लोभ से धर्म को न छोड़े, जीवन के हेतु भी धर्म को न छोड़े, क्योंकि धर्म नित्य हैं सुख दुःख अनित्य हैं, जीव नित्य है, देहधारी का शरीर धारण का हेतु अनित्य है।

पुण्य कर्म—

पवित्र करने वाले कर्म—

सत्यार्जवमथाक्रोधः संविभागो दमः शमः ।
अनसूयाऽविहिंसा च शौचमिन्द्रियसंयमः ॥
पावनानि महाराज नराणां पुण्यकर्मणाम् ।
(महा० वनप० व्रीहि द्रोणिकाप० अ० २५९ । १८)

सत्य, सरलता, अक्रोध, निज भाग पर निर्भर रहना, दमन, शमन, अनिन्दा, अहिंसा, शौच, इन्द्रियसंयम ये पुण्य कर्म वाले जनों को पवित्र करने वाले कर्म हैं ।

विशेषस्त्वत्र विज्ञेयो न्यायेनोपार्जितं धनम् ।
पात्रे काले च देशे च साधुभ्यः प्रतिपादयेत् ॥
(महा० वनप० व्रीहि द्रोणिका० अ० २६७ । ३२)

यहाँ विशेष यह जानना चाहिये कि न्याय से प्राप्त धन को पात्र, काल, देश में सज्जनों के प्रति देना ।

उपादेय कर्म—

देवतातिथिभृत्यानां पितृणामात्मनस्तथा ।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति ॥ ५८ ॥
सार्थः प्रवसतो मित्रं भार्या मित्रं गृहे सतः ।
आतुरस्य भिषङ्मित्रं दानं मित्रं मरिष्यतः ॥ ६४ ॥
दाक्ष्यमेकपदं धर्म्यं दानमेकपदं यशः ।
सत्यमेकपदं स्वर्ग्यं शीलमेकपदं सुखम् ॥ ७० ॥
धन्यानामुत्तमं दाक्ष्यं धनानामुत्तमं श्रुतम् ।
लाभानां श्रेय आरोग्यं सुखानां तुष्टिरुत्तमा ॥ ७४ ॥
आनृशंस्यं परो धर्मस्त्रयी धर्मः सदा फलः ।
मनो यस्य न शोचति स हि सद्भिर्न जीर्यते ॥ ७६ ॥

मानं हित्वा प्रियो भवति क्रोधं हित्वा न शोचति ।
कामं हित्वा अर्थवान् भवति लोभं हित्वा सुखी भवेत् ॥७८॥
मृतो दरिद्रः पुरुषो मृतं राष्ट्रमराजकम् ।
मृतमश्रोत्रियं श्राद्धं मृतो यज्ञस्त्वदक्षिणः ॥ ८४ ॥
तपः स्वधर्मवर्तित्वं मनसो दमनं दमः ।
क्षमा द्वन्द्वसहिष्णुत्वं ह्रीरकार्यनिवर्तनम् ॥ ८८ ॥
ज्ञानं तत्वार्थसम्बोधः शमश्चित्तप्रशान्तता ।
दया सर्वसुखैषित्वमार्जवं समचित्तता ॥ ९० ॥
क्रोधः सुदुर्जयः शत्रुर्लोभो व्याधिरनन्तकः ।
सर्वभूतहितः साधुरसाधुर्निर्दयः स्मृतः ॥ ९२ ॥
स्वधर्मे स्थिरता स्थैर्यं धैर्यमिन्द्रियनिग्रहः ।
स्नानं मनो मलत्यागो दानं वै भूतरक्षणम् ॥ ९६ ॥

(महा० वनप० आरणेय प० अ० ३१३)

देवता, अतिथि, नौकर और अपने पिता-माता आदि पितर जनों के लिये जो भोजन नहीं देता वह श्वास लेता हुआ भी जीवित नहीं है ।

प्रवास में रहते हुए का मित्र धन है, घर में मित्र पत्नी है, रोगी का मित्र चिकित्सक है—और मरते हुए का मित्र दान है ।

दक्षता–चतुराई ही एकमात्र धर्म्म कर्म उचित कर्म है, दान एकमात्र यश है, सत्य एकमात्र स्वर्ग देने वाला है, शील एकमात्र सुख है।

धन्यवादों में दक्षता धनों में विद्या—ज्ञानप्राप्ति, लाभों में आरोग्य, सुखों में तुष्टि (सन्तोष) उत्तम है ।

अहिंसा ऊंचा धर्म है, त्रयी (वेदत्रयी) धर्म सदा फलवाला है, जिसका मन शुद्ध हो या शुद्ध मन वाला मनुष्य शोच नहीं करता है। सज्जनों से मेल मिलाप पुराना नहीं पड़ता ।

मनुष्य मान को छोड़ कर प्रिय बनता है, क्रोध के त्याग से शोच नहीं करता है; काम भाव को त्याग कर अर्थ वाला बनता है और लोभ को छोड़कर सुखी होता है।

दरिद्र (आलस्य वाला और अयत्नशील) मनुष्य मरा जैसा है, शासकहीन राष्ट्र मरा हुआ है, वेदवेत्ता के बिना भोज मरा हुआ है और दक्षिणारहित यज्ञ भी मरा हुआ है।

स्वधर्म में वर्तना तप है, मन का दमन दमन है, द्वन्द्व-सहनशीलता क्षमा है, अकार्य से अलग रहना लज्जा है।

ज्ञान है तत्वार्थ साक्षात्कार, शम है चित्त की प्रशान्तता, दया है सब प्राणियों के सुख की कामना करना, सरलता है चित्त की समानता।

अति दुर्जय शत्रु, क्रोध है, अनन्त व्याधि लोभ है, सर्व प्राणिहित में रत जन साधु है और निर्दय जन असाधु है।

स्थैर्य है अपने कर्तव्य पर स्थिर रहना, धैर्य है इन्द्रियों पर अधिकार रखना, स्नान है मन के मल का त्याग और दान है प्राणियों की रक्षा करना॥

सहज मित्ररूप गुण—

विद्या शौर्यं च दाक्ष्यं च बलं धैर्यं च पञ्चमम्।
मित्राणि सहजान्याहुर्वर्तयन्तीह तैर्बुधाः॥
(महा० शान्ति प० आपद्धर्म० अ० १३८ । ८५)

विद्या, शौर्य, दाक्ष्य (चतुराई बल, धैर्य) ये सहज मित्र हैं इनसे मनुष्य का व्यवहार पड़ता।

अद्रोहः सर्वभूतेषु सन्तोषः शीलमार्जवम्।
तमो दमश्च सत्यं च प्रदानं चेति सम्मितम्॥
(महा० आश्वमे० पं० ९० । १२०)

वैरत्याग, सन्तोष, शील, ऋजुता, तप, दमन, सत्य, प्रदान करना, ये सब समान सद्गुण है।

शील रूप गुण—

जिता सभा वस्त्रवता मिष्टाशा गोमता जिता।
अध्वा जितो यानवता सर्वं शीलवता जितम्॥
(महा० उद्योग० प्रजा० अ० ३४। ४७)

वस्त्र भूषा से सभा सम्मान जीत लिया, गौएं जिसके पास हों उसने पायस आदि मिष्टान्न जीत लिये, उनकी प्राप्ति उसे हो जाती है, गाड़ी जिसके पास हो उसने मार्ग या यात्रा जीत ली है और शील-सहन शील-सहन शील जिसका हो उसने सब कुछ जीत लिया है।

शील का स्वरूप—

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतत् प्रशस्यते॥
यदन्येषां हितं न स्यादात्मनः कर्म पौरुषम्।
अपत्रपेत वा येन न तत्कुर्यात्कथञ्चन॥
तत्तु कर्म तथा कुर्याद्येन श्लाघ्येत संसदि।
शीलं समासेनैतत्ते कथितं कुरुसत्तम॥
(महा० शान्ति प० राज० अ० १२४। ६६-६८)

सर्व प्राणियों के प्रति मन वचन कर्म से अद्रोह (वैरत्याग) दया, दान यह शील प्रशंसनीय है। जिससे अन्यों का हित न हो और जिस से स्वयं लज्जा भाव होता हो उस ऐसे अपने कर्म वा पुरुषार्थ को न करे।

उस कर्म को अवश्य करना चाहिए जिससे सभा में प्रशंसा

पावे, यह संक्षेप से शील अर्थात् उत्तम गुण स्वभाव की बातें राजन् तुझ से कहीं है।

महापाप कृतघ्नता—

ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा।
निष्कृतिर्विहिता राजन् कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः॥

(महा० शान्ति० आपद्धर्म० अ० १७२। २५)

ब्रह्महत्यारे, सुरापान करनेवाले, चोर तथा व्रतभङ्ग करनेवाले के सम्बन्ध में तो निष्कृति (प्रायश्चित्त, प्रतिविधान, छुटकारा) है किन्तु कृतघ्न के लिए नहीं है, कृतघ्नता महापाप है।

दोष (काम बन्धन)—

कामबन्धनमेवैकं नान्यदस्तीह बन्धनम्।
कामबन्धनमुक्तो हि ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० २५१। ७)

कामवासना ही बन्धन है, अन्य यहाँ बन्धन नहीं है, कामवासना रूप बन्धन से छूटा हुआ ब्रह्मप्राप्ति में समर्थ होता है।

मन वाणी शरीर से होनेवाले विविध पाप कर्म—

कायेन त्रिविधं कर्म वाचा चापि चतुर्विधम्।
मनसा त्रिविधं चैव दश कर्मपथांस्त्यजेत्॥
प्राणातिपातः स्तैन्यं च परदारानथापि च।
त्रीणि पापानि कायेन सर्वतः परिवर्जयेत्॥
असत्प्रलापं पारुष्यं पैशुन्यमनृतं तथा।
चत्वारि वाचा राजेन्द्र न जल्पेन्नानुचिन्तयेत्॥
अनभिध्या परस्वेषु परसत्त्वेषु सौहृदम्।
कर्मणां फलमस्तीति त्रिविधं मनसा चरेत्॥

(महा० अनुशासनप० अ० १३। १—५)

शरीर से होनेवाले तीन, वाणी से होनेवाले चार, और मन से होने वाले तीन प्रकार के कर्म इस भाँति इन दश कर्मपथों को त्याग देना चाहिए। अर्थात् प्राणघात, चोरी, परस्त्रीगमन शरीर से होनेवाले इन तीन पाप कर्मों को सर्वथा छोड़ दे। असम्बद्ध प्रलाप, कठोर भाषण, अतिनिन्दा, झूठ बोलना वाणी से होनेवाले इन चार पाप कर्मों को राजन्! न करे न सोचे। परधनों में अनिच्छा, परजनों में मैत्री, स्नेह, सुहृदयता, कर्मों का फल मिलता है ऐसी आस्था ये तीन मन से आचरण करे इनके विपरीत परधनों में इच्छा, परजनों में घृणा या वैर, कर्मों का फल नहीं मिलता ऐसी भावना को छोड़ दे या न करे॥

सुरापान आदि वेदविरुद्ध—

सुरा मत्स्या मधुमांसमासवं कृसरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद्वेदेषु कल्पितम्॥

(महा० शांति प० मोक्ष० अ० २६५। ९)

सुरा (शराब), मछली, मधु, मांस, आसव, मांसौदन, यह धूर्त जनों ने प्रचलित कर दिए हैं। यह वेदों में नहीं कहे हैं।

पाप में शपथ (गाली)—

अकृतज्ञस्तु मित्राणां....। एकः सम्पन्नमश्नातु।
श्वशुरात् तस्य वृत्तिः स्यात्, दिवा गच्छतु मैथुनम्॥
प्रेष्यो भवतु राज्ञश्च अनाहिताग्नि म्रियताम्॥
निराकरोतु वेदाँश्च अतिथिर्गृहंसस्थोऽस्तु।
पठतां विस्वरं पदम्, शुल्केन तु ददत् कन्याम्॥
शरणागतं सन्त्यजतु यस्ते हरति पुष्करम्॥

(महा० अनुशासनप० अ० ९४। ३२)

अगस्त्य के पुष्कर (कमल) की चोरी के प्रसङ्ग में, शपथ अर्थात्

को गाली देने के प्रसङ्ग में निन्दनीय बातें दोष रूप में कहीं हैं कि—'मित्रों का अकृतज्ञ अर्थात् कृतघ्न होना, अकेला अच्छे भोग भोगना, श्वशुर से जीवन निर्वाह, दिन में मैथुन करना, राजा का नौकर या दास रहना अनाहिताग्नि रहना हवन यज्ञ के अधिकार से रहित, वेदों की अवज्ञा, संन्यासी गृहनिवासी, स्वर रहित पढना, बदले में धन लेकर कन्या का विवाह करना, शरणागत का त्याग करना आदि वह करे जिस ने तेरा कमल चुराया हो ॥

दोषों के उत्पत्तिकारण—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥
(महा० भगवद्गीता प० अ० २६ । (३) ६२, ६३)

विषयों का ध्यान करते रहने से मनुष्य का उन में लगाव हो जाता है, लगाव से काम उत्पन्न होता है काम से क्रोध, क्रोध से संमोह, संमोह से स्मृतिविभ्रम, स्मृतिविभ्रम से बुद्धिनाश, बुद्धिनाश से नष्ट हो जाता है।

लोभात् क्रोधः प्रभवति परदोषैरुदीर्यते ।
क्षमया तिष्ठते राजन् क्षमया विनिवर्तते ॥ ७ ॥
सङ्कल्पाज्जायते कामः सेव्यमानो विवर्धते ।
यदा प्राज्ञो विरमते तदा सद्यः प्रणश्यति ॥ ८ ॥
अज्ञानप्रभवो मोहः पापाभ्यासात्प्रवर्तते ।
यदा प्राज्ञेषु रमते तदा सद्यः प्रणश्यति ॥११॥
प्रीत्या शोकः प्रभवति वियोगात् तस्य देहिनः ।
यदा निरर्थकं वेत्ति तदा सद्यः प्रणश्यति ॥१३॥

अज्ञानप्रभवो लोभो भूतानां दृश्यते सदा।
अस्थिरत्वं च भोगानां दृष्ट्वा ज्ञात्वा विनिवर्तते ॥२१॥
(महा० शान्ति प० आपद्ध० अ० १६३)

लोभ से क्रोध उत्पन्न होता है और दूसरे के दोषों से वह बढ़ जाता है, क्षमा से ठहर जाता है और क्षमा से वह दूर भी हो जाता है। सङ्कल्प से काम भाव उत्पन्न होता है सेवन करने पर बढ़ता है, जब बुद्धिमान् उस से उपराम होता है तो वह तुरन्त नष्ट हो जाता है। अज्ञान से मोह उत्पन्न होता है पाप के अभ्यास से चलता है,जब समझदारों में सत्सङ्ग करता है तब वह मोह तुरन्त नष्ट हो जाता है। प्राणी का प्रीति के कारण वियोग से शोक होता है, जब प्रीति करना निरर्थक असार समझता है तब शोक नष्ट हो जाता है। प्राणियों का अज्ञान से लोभ उत्पन्न हुआ दिखाई पड़ता है, भोगों की अस्थिरता देखकर और जानकर लोभ हट जाता है ॥

दोष दूरीकरण के साधन—

अप्रमादाद् भयं रक्षेत् ॥ ६ ॥
उपद्रवांस्तथा रोगान् हितजीर्णमिताशनात्।
लोभं मोहं च सन्तोषाद् विषयांस्तत्त्वदर्शनात् ॥ ८ ॥
उत्थानेन जयेत्तन्द्रां वितर्कं निश्चयाज्जयेत्।
मौनेन बहुभाष्यं च शौर्येण च भयं त्यजेत् ॥ ९ ॥
(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० २७४।)

सावधानता से भय स्थान का बचाव करना, उपद्रवों तथा रोगों को हित भोजन जीर्ण होने (पचने वाले) भोजन और मात्रानुसार भोजन करने से, लोभ मोह को सन्तोष से विषयों को यथार्थ ज्ञान से तन्द्रा (अर्धनिद्रा) रूप आलस्य को खड़े हो जाने से जीते, कुतर्क या सन्देह को निश्चय से जीते। मौन से बहुत बोलने को और शौर्य से भय को छोड़े ॥

छिन्दन्ति क्षमया क्रोधं कामं संकल्पवर्जनात्।
सत्वसंसेवनान्निद्रामप्रमादाद् भयं तथा ॥
(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३०१ । २७)

क्रोध को क्षमा से नष्ट करते हैं, काम भाव को सङ्कल्प-त्याग से सत्त्व (सात्त्विक भाव के सेवन) से निद्रा को अप्रमाद से भय को नष्ट करे ॥

कर्म का महात्म्य—

कर्मणः फलनिर्वृत्तिं स्वयमश्नाति कारकः।
प्रत्यक्षं दृश्यते लोके कृतस्यापकृतस्य च ॥ ९ ॥
शुभेन कर्मणा सौख्यं दुःखं पापेन कर्मणा।
कृतं फलति सर्वत्र नाकृतं भुज्यते क्वचित् ॥ १० ॥
अर्था वा मित्रवर्गो वा ऐश्वर्यं वा कुलान्वितम्।
श्रीश्चापि दुर्लभा भोक्तुं तथैवाकृतकर्मभिः ॥ १५ ॥
स्वं चेत् कर्मफलं न स्यात् सर्वमेवाफलं भवेत्।
लोको दैवमालक्ष्य उदासीनो भवेन्ननु ॥ १९ ॥
अकृत्वा मानुषं कर्म यो दैवमनुवर्तते।
वृथा श्राम्यति सम्प्राप्य पतिं क्लीवमिवाङ्गना ॥ २० ॥
कृतः पुरुषकारस्तु दैवमेवानुवर्तते।
न दैवमकृते किञ्चित्कस्यचिद् दातुमर्हति ॥ २२ ॥
पाण्डवानां हृतं राज्यं धार्तराष्ट्रमहाबलैः।
पुनः प्रत्याहृतं दैव न दैवाद् भुजसंश्रयात् ॥ ४० ॥
यथा तैलसंक्षयाद् दीपः प्रह्रासमुपगच्छति।
तथा कर्मक्षमाद् दैवं प्रह्रासमुपगच्छति ॥ ४४ ॥
(महा० अनुशासन प० अ० ६)

कर्म की फल सिद्धि को स्वयं कर्ता भोगता है, अच्छे और बुरे

कर्म का संसार में प्रत्यक्ष परिणाम देखा जाता है। शुभ कर्म से सुख और पाप कर्म से दुःख होता है। किए हुए कर्म का फल मिलता है, कर्म बिना फल, कहीं भी भोगा नहीं जाता है। धन या मित्र या ऐश्वर्य या कुलीनता और लक्ष्मी भी भोगना कर्म हीन जनों से दुर्लभ है। यदि कर्म का फल न हो तो कर्म निष्फल हो जावें और लोग दैव का आश्रय लेकर निश्चय कर्म करने से उदासीन हो जावें। जो जन मनुष्योचित कर्म न करके दैव के भरोसे रहता है वह नपुंसक पुरुष को प्राप्त स्त्री की भांति वह व्यर्थ जीवन यात्रा करता है। पुरुषार्थ किया हुआ ही दैव के रूप में आता है, दैव पुरुषार्थ किए बिना किसी को कुछ नहीं दे सकता है। पाण्डवों का राज्य धृतराष्ट्र के पुत्रों द्वारा छीना हुआ पुनः भुजबल (पुरुषार्थ) से प्राप्त किया, दैव से नहीं। जैसे तैल के क्षय से दीपक क्षीणता को प्राप्त हो जाता है इसी प्रकार कर्म के क्षय से दैव क्षीण हो जाता है॥

कर्म का फल कर्ता अवश्य प्राप्त करता है—

यथा मृत्पिण्डतः कर्ता कुरुते यद्यदिच्छति।
एवमात्मकृतं कर्म मानवः प्रतिपद्यते॥
यथा छायातपौ नित्यं सुसम्बद्धौ निरन्तरम्।
तथा कर्म च कर्ता च सम्बद्धावात्मकर्मभिः॥

(महा० अनुशासन प० अ० १। ७४, ७५)

जैसे मिट्टी के पिण्ड से कर्ता (कुम्हार) जो जो चाहता है करता है इसी प्रकार मनुष्य अपने किए हुए कर्मानुसार फल प्राप्त करता है। जैसे छाया और धूप नित्य निरन्तर साथ हैं ऐसे ही कर्म और कर्ता अपने किए कर्मों से बंधे हैं।

कर्म का नाश नहीं होता कर्म किसान की भांति फल पाता है—

शुभानामशुभानां च नेह नाशोऽस्ति कर्मणाम् ॥
प्राप्य प्राप्यानुपच्यन्ते क्षेत्रं क्षेत्रं तथा तथा।
क्षेत्रं कर्मजमाप्नोति शुभं वा यदि वाऽशुभम् ॥

(महा० आश्वमेधिक प० अ० १८। ५)

इस संसार में शुभ और अशुभ कर्मों का नाश नहीं होता यथा खेत खेत को प्राप्त कर पकता जाता है फल लाता जाता है इसी प्रकार कर्मों के पाक या फल का भी क्रम चलता रहता है तदनुसार ही शुभ और अशुभ शरीर को मनुष्य कर्मानुसार प्राप्त किया करता है।

कर्म का फल समय पाकर यथावत् भोगना होता है—

येन येन यथा यद्यत् पुरा कर्म सुनिश्चितम्।
तत्तदेवोत्तरं भुंक्ते नित्यं विहितमात्मनः ॥ १० ॥
अचोद्यमानानि यथा पुष्पाणि च फलानि च।
स्वं कालं नातिवर्तन्ते यथा कर्म पुराकृतम् ॥ १२ ॥
यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति ॥ १६ ॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३२२)

जिस जिस साधन या अङ्ग से जो जो पूर्व कर्म हुआ, उस उस अपने किए कर्म को मनुष्य अवश्य भोगता है। जैसे अनायास फूल और फल अपने समय का उल्लंघन न करके समय पर प्राप्त होते हैं एवं पूर्व किया कर्म भी समयानुसार प्राप्त होता है। जैसे सहस्रों गौओं के मध्य में बछड़ा अपनी माता को पा लेता है ऐसे पूर्व किया कर्म कर्ता को प्राप्त होता है।

जिस अङ्ग से और जिस अवस्था से कर्म किया जाता है फल भी वैसा होता है—

येन येन शरीरेण यद्यत्कर्म करोति यः ।
तेन तेन शरीरेण तत्तत् फलमुपाश्नुते ॥
यस्यां यस्यामवस्थायां यत् करोति शुभाशुभम् ।
तस्यां तस्यामवस्थायां भुङ्क्ते जन्मनि जन्मनि ॥
न नश्यति कृतं कर्म सदा पञ्चेन्द्रियैरिह ।
ते ह्यस्य साक्षिणो नित्यं षष्ठ आत्मा तथैव च ॥

(महा० अनुशासन प० अ० ७ । ३—५)

जिस जिस अङ्ग से जो जो कर्म करता है उस उस अङ्ग से उस उस फल को प्राप्त होता है। जिस जिस अवस्था में जो शुभ अशुभ कर्म करता है उस उस अवस्था में जन्म जन्म में मनुष्य फल [illegible] ां इन्द्रियों से किया हुआ कर्म नष्ट नहीं होता है। वे पांचों इन्द्रियां और छठा आत्मा उसके साक्षी हैं॥



दशम पार्श्व
वैराग्य-संस्थान

धन को मनुष्य या मनुष्य को धन छोड़ देता है—

धनं वा पुरुषो राजन् पुरुषं वा पुनर्धनम् ।
अवश्यं प्रजहात्येव तद्विद्वान् कोऽनुसंज्वरेत् ॥

(महा० शान्ति प० राजधर्म० अ० १०४ । ४५)

राजन् ! एक दिन धन को मनुष्य छोड़ देता है या धन मनुष्य को अवश्य छोड़ देता है ऐसा जानने वाला जन धन के नाश में दुःखी नहीं होता ।

मरने पर धन को दूसरे भोगते हैं—

अन्यो धनं प्रेतस्य भुंक्ते वयांसि चाग्निश्च शरीरधातून् ।
द्वाभ्यामयं सह गच्छत्यमुत्र पुण्येन पापेन च वेष्ट्यमानः ॥

(महा० उद्योग प० प्रजा० अ० ४० । १६)

मरे हुए मनुष्य का धन तो दूसरे जन भोगते हैं और शरीर की धातुओं को पक्षी खा जाते हैं या अग्नि भस्म कर देती है, केवल पुण्य और पाप से संयुक्त हुआ इन दो के साथ ही परलोक पुनर्जन्म या मोक्ष को प्राप्त होता है ।

सञ्चय क्षयान्त आदि—

सञ्चये च विनाशान्ते मरणान्ते च जीविते ।
संयोगे च वियोगान्ते को नु विप्रणयेन्मनः ॥

(महा० शान्ति प० राजधर्म० अ० १०४ । ४४)

अन्त में विनष्ट होने वाले सञ्चय में, अन्त में मरने वाले जीवन में और अन्त में वियोग वाले संयोग में कौन मन को फंसावे ।

सर्वेक्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम् ॥
(महा० शान्ति प० राजधर्म० अ० २७ । ३१)

सब सञ्चय राशि अन्त में क्षय होने वाली है, सब ऊंचे खड़े हुए स्थान अन्त में गिरने वाले हैं, संयोग अन्त में वियोग को प्राप्त होने वाले और जीवन का मरण अन्त में होता है ।

विविध दुःखमय संसार—

सन्ति पुत्राः सुबहवो दरिद्राणामनिच्छताम् ।
नास्ति पुत्रः समृद्धानां विचित्रं विधिचेष्टितम् ॥ २४ ॥
दृश्यते हि युवैवेह विनश्यन् वसुमान् नरः ।
दरिद्रश्च परिक्लिष्टः शतवर्षो जरान्वितः ॥ २७ ॥
प्रायेण श्रीमतां लोके भोक्तुं शक्तिर्न विद्यते ॥ २९ ॥
(महा० शान्ति० राजध० अ० २८)

न चाहते हुए भी दरिद्रों के बहुत पुत्र हैं और समृद्धों धनिकों का एक भी पुत्र नहीं, यह विचित्र है । धनवान् युवा जन भी मरा हुआ देखा जाता है और दरिद्र जन क्लेश पाता हुआ भी बुढापे तक सौ वर्ष जीता है । प्रायः धनवानों की भोगने में शक्ति नहीं होती ।

मित्र और शत्रु स्थिर नहीं, किन्तु प्रयोजन वश होते हैं—

नास्ति मैत्री स्थिरा नाम न च ध्रुवमसौहृदम् ।
अर्थयुक्त्यानुजायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ॥
(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० १३८ । ४१)

मैत्री स्थिर नहीं और न शत्रुता स्थिर है किन्तु प्रयोजन वश मित्र और शत्रु हो जाते हैं ।

माता-पिता आदि के सम्बन्ध अनित्य हैं—

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वद्भूतसमागमः ॥ ३६ ॥

मातापितृसहस्राणि पुत्रदाराशतानि च ।
संसारेष्वनुभूतानि कस्य ते कस्य वा वयम् ॥ ८ ॥
(महा० शान्ति प० राजधर्मानु० अ० २८)

जैसे काष्ठ काष्ठ महानद में मिलते हैं मिलकर अलग हो जाते हैं वैसा ही प्राणियों का समागम है । माता पिता सहस्रों पुत्र स्त्रियाँ सैंकड़ों संसार में जन्म जन्मान्तरों में अनुभव किए हैं किस के वे हैं और किस के हम हैं ।

यथा काष्ठं च काष्ठं च....तद्वद् भूत समागमः ।
एवं पुत्राश्च पौत्राश्च ज्ञातयो बान्धवाश्च ।
तेषां स्नेहो न कर्तव्यो विप्रयोगो ध्रुवां हिते ॥
(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० १७४)

जैसे काष्ठ काष्ठ महानद में मिल जाते हैं मिलकर अलग हो जाते हैं ऐसे ही प्राणियों का समागम है । इसी प्रकार पुत्र पौत्र ज्ञाति बन्धुजन हैं । उन में राग न करना चाहिए तेरे लिये वियोग उनसे होना ही निश्चित है ।

यौवन रूप जीवन आदि अनित्य है—

अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं द्रव्यसञ्चयः ।
आरोग्यं प्रियसंवासो गृध्येत्तत्र न पण्डितः ॥
(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० २०५ । ४)

यौवन, रूप, जीवन, द्रव्य सञ्चय, आरोग्य, प्रिय सहवास ये सब अनित्य हैं इनमें विद्वान् लालसा नहीं करता है ।

मृत्यु तो एक जीर्ण घर से दूसरे घर को जाने के समान है—

हित्वा हित्वा ह्ययं प्रैति देहाद्देहं कृताश्रयः ।
कालसंचोदितः क्षेत्री विशीर्णाद्वा गृहाद् गृहम् ॥
(महा० शान्ति प० मोक्ष अ० २७५ । ३३)

जीव कर्मों के अनुसार समय से प्रेरित हुआ एक देह से दूसरे देह को प्राप्त होता है जैसे मनुष्य एक जीर्ण (पुराने) घर से दूसरे घर को प्राप्त होता है इससे दुःख या चिन्ता करना योग्य नहीं।

विषय भोगों में रति रखना अति दुःखदायक है—

इषुप्रपातमात्रं हि स्पर्शयोगे रतिः स्मृता।
रसने दर्शने घ्राणे श्रवणे च विशाम्पते॥
ततोऽस्य जायते तीव्रा वेदना तत्क्षयात् पुनः।
अबुधा न प्रशंसन्ति मोक्षं सुखमनुत्तमम्॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० २९५। ३२,३३)

राजन्! स्पर्श विषय में, रस, गन्ध, शब्द में रति बाण के विंधने की भाँति है क्योंकि रति के पश्चात् तीव्र पीड़ा होती है किन्तु बेसमझ लोग अत्युत्तम मोक्ष सुख की भी प्रशंसा नहीं करते।

संसार असार है—

अपां फेनोपमं लोकं विष्णोर्मायाशतैर्वृतम्।
चित्रभित्तिप्रतीकाशं नलसारमनर्थकम्॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३०१। ५९)

जल के फेन के समान अस्थिर है विष्णु व्यापक-ईश्वर की सैकड़ों मायाओं से भरा है, अथवा चित्रभित्ति के सदृश सत्त्व-रहित या नलसार पोल (नरसल में सार जैसे नहीं होता है) वैसा यह सार रहित है।

जीव शरीर में आकर आत्मोत्थान नहीं करता तो द्वन्द्वों में ही पड़ा रहता है—

द्वन्द्वमेति च निर्द्वन्द्वस्तासु तास्विह योनिषु।
शीर्षरोगेऽक्षिरोगे च दन्तशूले गलग्रहे॥
जलोदरे तृषारोगे ज्वरगण्डे विषूचके।
श्वित्रकुष्ठेऽग्निदग्धे च सिध्मापस्मारयोरपि॥

यानि चान्यानि द्वन्द्वानि प्राकृतानि शरीरिषु।
उत्पद्यन्ते विचित्राणि तान्येषोऽभिमन्यते ॥
(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३०३। ५—७)

जीव निर्द्वन्द्व है तो भी उन उन योनियों में द्वन्द्व अर्थात् सुख दुःख को प्राप्त होता है, जैसा कि शिर के रोग में, नेत्र रोग में, दन्तपीडा में, गलग्रह में, जलोदर में, तृषा-रोग में, गण्डज्वर में, विषूचक में, श्वेत कुष्ठ में, अग्निदग्ध में, गलितकुष्ठ में, अपस्मार में और जो प्राकृतिक विचित्र द्वन्द्व जीवों में उत्पन्न होते हैं उनको अनुभव करता है।

सुलभा संन्यासिनी का राजा जनक को वैराग्य का उपदेश—

बड़ा सम्राट् भी सेर भर अन्न, दूध, घर में एक बिस्तर मात्र का अधिकारी है—

य इमां पृथिवीं कृत्स्नामेकच्छत्रां प्रशास्ति ह।
एकएव स वै राजा पुरमध्यावसत्युत ॥ १३४ ॥
तत्पुरे चैकमेवास्य गृहं यदधितिष्ठति।
गृहे शयनमप्येकं निशायां यत्र लीयते ॥ १३५ ॥
तदनेन प्रसक्तेन फलेनैवेह युज्यते ॥ १३७ ॥
[गोशतादपि गोक्षीरं प्रस्थं धान्यशतादपि।
प्रासादादपि त्वद्वार्धं शेषाः परविभूतयः ॥]
(महा० शान्ति प० मोक्ष अ० ३२०)

जो मनुष्य इस सारी पृथिवी को स्वाधीन कर शासन करता है वह राजा पृथिवी भर में एक नगर में रहता है और उस नगर में भी एक ही घर में वास करता है और उस घर में भी एक बिस्तरा पलंग ही उसके लिये है जिस पर रात्रि में सोता है केवल इतना ही फल सारे पृथिवी भर के राज्य का है। सैकड़ों गौओं से सेर भर दूध तथा सैंकड़ों अन्न भरे महलों में आधा सेर अन्न ही तेरे लिये है शेष दूसरों की सम्पत्तियां हैं।

राजता भी परतन्त्रता है—

यदा ह्याज्ञापयत्यन्यांस्त । ऽस्वतन्त्रता ।
अवशः कार्यते तत्र तस्मिंस्तस्मिन् क्षणे स्थितः ॥ ४० ॥
स्वप्नकामो न लभते स्वप्तुं कार्यार्थिभिर्जनैः ।
शयने चाप्यनुज्ञातः सुप्त उत्थाप्यतेऽवशः ॥ ४१ ॥
स्नाह्यालभ पिब प्राश जुहुध्यग्नीन् यजेत्यपि ।
ब्रवीहि शृणु चापीति विवशः कार्यते परैः ॥ ४२ ॥
अभिगम्याभिगम्यैवं याचन्ते सततं नराः ।
न चाप्युत्सहते दातुं वित्तरक्षी महाजनान् ॥ ४३ ॥
दानं कोषक्षयोऽप्यस्य वैरं चाप्यप्रयच्छतः ।
क्षणेनास्योपवर्तन्ते दोषा वैराग्यकारकाः ॥ ४४ ॥
प्राज्ञान् शूरांस्तथैवाढ्यानेकस्थानपि शंकते ।
भयमप्यभये राज्ञो यैश्च नित्यमुपास्यते ॥ ४५ ॥
तथा चैते प्रदुष्यन्ति राजन् ये कीर्तिता मया ।
तथैवास्य भयं तेभ्यो जायते पश्य यादृशम् ॥ ४६ ॥
सर्वः स्वे स्वे गृहे राजा सर्वः स्वे स्वे गृहे गृही ।
निग्रहानुग्रहान् कुर्वंस्तुल्यो जनक राजभिः ॥ ४७ ॥
पुत्रादारास्तथैवात्मा कोशो मित्राणि सञ्चयः ।
परैः साधारणा ह्येते तैस्तैरेवास्य हेतुभिः ॥ ४८ ॥

(महा० शान्ति प० मे च० अ० ३२०)

राजा जब अन्यों को आज्ञा देता है तब इसकी परतन्त्रता है, अवश हो कार्य में लगता है। उस उस क्षण में नियत हुआ सोना चाहता हुआ भी सो नहीं पाता। प्रयोजन वाले जनों द्वारा बिस्तरे पर भी अनुमति पाया हुआ सोता हुआ उठा दिया जाता है। राजन्! स्नान कर, उबटन कर, पी, खा, होम कर, अग्नियों का यजन कर, बोल, सुन इत्यादि कहने पर कार्य में तत्पर होना पड़ता है। पुनः पुनः

जाकर लोग इससे याचना करते हैं। धनरक्षी राजा देने को तैयार नहीं होता। दे देने में कोषक्षय, न देने पर वैर इसके प्रति हो जाता है क्षण भर में इसके अन्दर राज्य से ग्लानि कराने वाले आ जाते हैं। एक स्थान पर एकत्र हुए विद्वानों, बलवानों, धनिकों को भी शङ्का की दृष्टि से देखता है। अभय स्थान में भी भय राजा को जिनसे प्राप्त होता है। हे राजन्! उक्त दोष देखे हैं जो मैंने कहे हैं। उसी प्रकार उनसे इस राजा को, जो भय होता है उसे शत्रु सब कोई अपने अपने घर में राजा, सब कोई अपने अपने घर में घर वाला, अकृपा, कृपा, बन्धन और छूट करता हुआ हे जनक! साधारण जन भी राजाओं के समान है। पुत्र, स्त्रियाँ तथा अपना आत्मा, कोश, मित्र, सञ्चय दूसरे के साथ उन उन हेतुओं से ये सामान्य हैं।

को राज्यमभिपद्यते प्राप्य चोपशमं लभेत्।
ममेदमिति यच्चेदं पुरं राष्ट्रं च मन्यसे॥ १५३॥
ननु नाम त्वया मोक्षः कृत्स्नः पञ्चशिखाच्छ्रुतः।
सोपायः सोपनिषदः सोपसङ्गः सनिश्चयः॥ १६२॥
तस्य ते मुक्तसङ्गस्य पाशानाक्रम्य तिष्ठतः।
छत्रादिषु विशेषेषु पुनः सङ्गः कथं नृप॥ १६३॥
श्रुतं ते न श्रुतं मन्ये मृषावाऽपि श्रुतं श्रुतम्॥ १६४॥
अथवा श्रुतसंकाशं श्रुतमन्यच्छ्रुतं त्वया।

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३२०)

पुनः सुलभा संन्यासिनी राजा जनक से कहती है—हे राजन्! कौन ऐसा है जो राज्य को तो प्राप्त करे, पुनः प्राप्त करके शान्ति लाभ पावे अर्थात् कोई नहीं। मेरा यह नगर या राष्ट्र है ऐसा तू मानता है। भला तूने महर्षि पञ्चशिख आचार्य से मोक्ष का श्रवण साधन, और उपनिषद् विद्या सहित, रहस्यसहित, आन्तरिक सहयोगी वृत्तसहित

निश्चय सहित किया है। उस तुझ सङ्गरहित पाशों का अतिक्रमणकर चुके हुए का राजछत्र आदि विशेष वस्तुओं में पुनः सङ्ग क्यों हो गया। हे राजन्! तेरे सुने हुए मोक्ष को मैं न सुना हुआ, न समझा हुआ मानती हूं, अथवा तेरे सुने हुए मोक्ष विषय को मैं व्यर्थ सुना मानती हूं, अथवा सुना हुआ मोक्ष सुना जैसा न कि भली भांति सुना, किन्तु तूने कुछ और ही सुना है।

मृत्यु से सब आवृत हैं, धर्म पोत से तरना चाहिए—

कामं क्रोधं च मृत्युं च पञ्चेन्द्रियजलां नदीम्।
नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्म-दुर्गाणि सन्तर॥
मृत्युनाभ्याहते लोके जरया परिपीड़िते।
अमोघासु पतन्तीषु धर्मपोतेन सन्तर॥
(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३२। १७—१८)

महर्षि व्यास शुक को उपदेश देते हैं कि काम, क्रोध, मृत्यु, पञ्च इन्द्रियों वाली नदी को धृति-धर्म भावना रूप नौका बनाकर जन्म दुर्गों को तैर। मृत्यु से आघात पाए और जर अर्थात् शरीर की क्षीणता से पीडित संसार में अमोघ (निरन्तर) बहती गिरती नदीवाले सागर को धर्मरूप पोत से तैर।

महर्षि व्यास का शुक को निर्ममत्व का उपदेश—

न मातृपितृबान्धवा न संस्तुतः प्रियो जनः।
अनुव्रजन्ति संकटे व्रजन्तमेकपातिनम्॥ ५०॥
हिरण्यरत्नसञ्चयाः शुभाशुभेन सञ्चिताः।
न तस्यदेहसंक्षये भवन्ति कार्यसाधकाः॥ ५२॥
अनुगम्य विनाशान्ते निवर्तन्ते ह बान्धवाः।
अग्नौ प्रक्षिप्य पुरुषं ज्ञातयः सुहृदस्तथा॥ ७४॥
(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३२१)

न माता पिता, बान्धव, न प्रशंसित प्रिय जन ही संकट में साथ जाते हैं। अकेले पड़ते हुए को पीछे या साथ साथ स्वर्ण रत्नों के सञ्चय, शुभ अशुभ से सञ्चित किए हुए सब चले जाते हैं। वे उसके देह नाश पर कार्य साधक नहीं होते हैं और बान्धव भी शव के पीछे जाते हुए अग्नि में शव को फेंककर बन्धु मित्र सब साथ घर को लौट आते हैं।

तथा—

मातृपितृसहस्राणि पुत्रदाराशतानि च।
तान्यनन्तान्यतीतानि कस्य ते कस्य वा वयम्॥ ८५॥
अहमेको न मे कश्चिन्नाहमन्यस्य कस्यचित्।
न तं पश्यामि यस्याहं तन्न पश्यामि यो मम॥ ८६॥
न तेषां भवता कार्यं न कार्यं तव तैरपि।
स्वकृतैस्तानि जातानि भवांश्चैव गमिष्यति॥ ८७॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष अ० ३२१)

माता पिता, सहस्रों पुत्र, दारा सैकड़ों एवं अनन्त हुए हैं किसके वे और किस के हम। मैं अकेला हूं, मेरा कोई नहीं, न मैं अन्य किसी का, न मैं उसे देखता हूं जिसका मैं हूं और न उसे देखता हूं जो मेरा हो। न उनके लिये तुझे कर्तव्य है, न उनके द्वारा तेरा कुछ करने योग्य है, अपने कर्मों से सब वे हुए और आप भी अपने कर्मों से इस संसार से चला जायगा।

ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम्।

(महा० आश्वमेधिक प० अ० ५१। २९)

संसार में वस्तुओं में ममत्व करना मृत्यु है। न ममत्व करना अपने नित्यत्व का अनुभव करना है।

दुःख जरा मृत्यु से आक्रान्त जीव मात्र को जान वैराग्य धारण करना—

तत्र मृत्युजरादुःखैः सततं समभिद्रुतः ।
संसारे पच्यते जन्तुस्तत्कथं नावबुध्यते ॥
(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३०९ । २७)

इस प्रकार मृत्यु, जरा-बुढापा, दुःखों से सदा आक्रान्त जीवमात्र पकता है, अवस्थान्तरित होता रहता है। ऐसा जानकर भी वह क्यों नहीं समझ पाता है ?

पुत्रदाराकुटुम्बेषु सक्ताः सीदन्ति जन्तवः ।
सरः पंकार्णवे मग्ना जीर्णा वनगजा इव ॥ ३० ॥
नहि त्वां प्रस्थितं कश्चित् पृष्ठतोऽनुगमिष्यति ।
सुकृतं दुष्कृतं च त्वां यास्यन्तमनुयास्यति ॥ ३५ ॥
अस्थिस्थूणस्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम् ।
चर्मावनद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥ ४२ ॥
जरा शोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् ।
रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यज ॥ ४३ ॥
(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३२९)

पुत्र स्त्री कुटुम्बों में फंसे हुए जन ऐसे पीडित रहते हैं जैसे सरोवर-तड़ाग के पङ्क प्रदेश में फैले हुए बूढ़े जङ्गली हाथी। जब तू संसार से प्रस्थान करेगा तब कोई तेरे पीछे पीछे न जायगा, केवल सुकृत और दुष्कृत ही तेरे साथ जायगा। हड्डी, स्थूण, नाड़ियों से युक्त मांस और रक्त से लिये हुए, चमड़े से ढके हुए, दुगन्धे वाले मूत्र-पुरुष से और जरा शोक से परिपूर्ण, रोगों के आयतन, दुःखी, रोगी, मैले, अनित्य, पृथिवी जल आदि के वास को छोड़।

अतीत अनित्य वस्तुओं का शोक न करना—

द्रव्येषु समतीतेषु ये गुणास्तान्न चिन्तयेत् ।
न तानाद्रियमाणस्य स्नेहबन्धः प्रमुच्यते ॥ ५ ॥

दोषदर्शी भवेत् तत्र यत्र रागः प्रवर्तते।
अनिष्टबुद्धिस्वं पश्येत्तथा क्षिप्रं विरज्यते ॥ ६ ॥
नार्थो न धर्मो न यशो योऽतीतमनुशोचति।
अप्यभावेन युज्येत तच्चास्य न निवर्तते ॥ ७ ॥
मृतं वा यदि वा नष्टं योऽतीतमनुशोचति।
दुःखेन लभते दुःखं द्वावनर्थौ प्रपद्यते ॥ ९ ॥
अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं द्रव्यसञ्चयः।
आरोग्यं प्रियसंवासो गृध्येत् तत्र न पण्डितः ॥ १४ ॥
प्राक् सम्प्रयोगाद् भूतानां नास्ति दुःखं परायणम्।
विप्रयोगात्तु सर्वस्य न शोचेत् प्रकृतिस्थित ॥ २७ ॥

(महा० शांति प० मोक्ष अ० ३३०)

नष्ट हुई, गई हुई वस्तुओं के गुणों का चिन्तन न करे, उन में राग रखने वाले का स्नेह बन्धन नहीं छूटता है। जहां राग हो उनमें तो दोषदर्शी होना चाहिए, उनमें अपना क्षय ही अनुभव करे तो शीघ्र विरक्त हो जाता है। जो मनुष्य गए हुए का शोच करता है उसका न अर्थ सिद्ध होता है न धर्म,न यश,अतः अन्य भाव-अपना पन न रखना चाहिए क्योंकि वह राग निवृत्त नहीं होता, मरे या नष्ट हुए पिछले को सोचता है, वह दुःख से दुःख को प्राप्त हो वर्तमान और भविष्य दोनों को दुःख रूप बनाता है। यौवन रूप जीवन द्रव्य सञ्चय, आरोग्य, प्रियजन का सङ्ग, अनित्य है, बुद्धिमान् उसमें लालसा न करे। वस्तुओं के प्रयोग से संयोग से पूर्व-उनमें राग न रखने से पूर्व नष्ट होने का दुःख नहीं होता है किन्तु वियोग से सबको होता है अतः स्वभाव स्थित होकर उसमें शोच न करे।

विषयभोग विषसमान—

क्षुरधारा विषं सर्पो बह्निरित्येकतः स्त्रियः ।

(महा० अनुशासनप० अ० ४० । ५)

छुरे की धार, विष,सर्प,अग्नि, और स्त्री ये सब समान हैं। अन्त समय में कोई किसी का साथी नहीं—

एकः प्रसूयते राजन्नेक एवं विनश्यति ।
एकस्तरति दुर्गाणि गच्छत्येकस्तु दुर्गतिम् ॥ ११ ॥
असहायः पिता माता तथा भ्राता सुतो गुरुः ।
ज्ञातिसम्बन्धिवर्गश्च मित्रवर्गस्तथैव च ॥ १३ ॥
मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं जनाः ।
मुहूर्तमिव रोदित्वा ततो यान्ति पराङ्मुखाः ॥
तैस्तच्छरीरमुत्सृष्टं धर्म एकोऽनुच्छति ॥ १४ ॥

(महा० अनुशासन प० अ० ५१ ११)

राजन ! अकेला जीव जन्मता है और मरता है। अकेला ही दुःखों को पार होता है, अकेला दुर्गति (दुःख) को प्राप्त होता है। पिता, माता, भ्राता, पुत्र, गुरु, ज्ञाति (परिचित),सम्बन्धि, गण और मित्र वर्ग भी सहायक न होकर मृत शरीर को काष्ठ, ढेले, पत्थर की भांति छोड़कर मुहूर्त भर रोकर पीछे लौट जाते हैं। उन के द्वारा छोड़े हुए मनुष्य के साथ धर्म ही जाता है।

वन में रहते हुए भी राग का होना मृत्यु के समान है—

अथवा वसतः पार्थ वने वन्येन जीवतः ।
ममता यस्य द्रव्येषु मृत्योरास्ये स वर्तते ॥

(महा० अश्वमेधिकप० अ० १३—७)

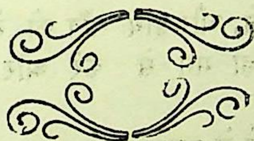
राजन् ! वन में रहते हुए वानप्रस्थ में भी वन्य भोजन आदि पर जीवन निर्वाह करते हुए भी जिस की ममता (राग) वस्तुओं में है, वह मृत्यु के मुख में हैं।

वैराग्य (दृष्ट वैराग्य) की प्राप्ति के कारण—

स्नेहायतननाशाच्च धननाशाच्च पार्थिव !
आधिव्याधिप्रतापाच्च निर्वेदमुपगच्छति ॥
निर्वेदादात्मसम्बोधः सम्बोधाच्छास्त्रदर्शनम् ।
शास्त्रदर्शनाद्राजंस्तप एवानुपश्यति ॥

(महा० शांति प० मोक्ष० २८५ । ११—१२)

राजन् ! जिसमें अपना स्नेह हो उसके नाश से, धन नाश से, विपत्ति और रोग की पीड़ा से मनुष्य वैराग्य को प्राप्त होता है। वैराग्य से आत्मज्ञान और आत्मज्ञान से शास्त्र का बोध होता है। शास्त्र बोध से तप की ओर चलता है।



एकादश पार्श्व

योग-संस्थान

योग के विघातक दोष—

आत्मारामेण बुद्धेन बोद्धव्यं शुचिकर्मणा ।
योगदोषान् समुच्छिद्य पञ्चमान् कवयो विदुः ॥ ४ ॥
कामं क्रोधं च लोभं च भयं स्वप्नं च पञ्चमम् ।
क्रोधं शमेन जयति कामं संकल्पवर्जनात् ॥ ५ ॥
धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत् पाणिपादं च चक्षुषा ॥ ६ ॥
चक्षुः श्रोत्रे च मनसा मनोवाचं च कर्मणा ।

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० २४०)

स्वात्मा में रमण करने वाले बुद्धिमान् एवं जागरू व पवित्र कर्मी जन को जानने योग्य है कि वह पांच दोषों को मूलतः उखाड़ कर शान्ति प्राप्त करे। 'वे पांच योग-दोष हैं' काम, क्रोध, लोभ, भय, स्वप्न। क्रोध को शमन से, काम भाव को सङ्कल्प त्याग से जीते। धैर्य या धारणा (स्थिर प्रतिज्ञा) से शिश्न और पेट की रक्षा करे अथवा लोभ को जीते, और हाथ पाँव को नेत्र से रक्षा करे, नेत्र और कानों की रक्षा मन से करे और मन की कर्म से रक्षा करे।

योग की यज्ञ कर्म से तुलना—

अश्वमेधसहस्रस्य वाजपेयशतस्य च ।
योगस्य कलया तात न तुल्यं विद्यते फलम् ॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० २२३ । १)

सहस्रों अश्वमेध यज्ञों सैंकड़ों वाजपेय यज्ञों, का फल योग की कला मात्र के भी तुल्य नहीं है।

योगी ही संसार बन्धन से छूट सकता है—

यथा चानिमिषाः स्थूला जालं छित्वा पुनर्जलम् ।
प्राप्नुवन्ति तथा योगास्तत्पदं वीतकल्मषाः ॥ १२ ॥
तथैव वागुरां छित्वा बलवन्तो यथा मृगाः ।
प्राप्नुयुर्विमलं मार्गं विमुक्ताः सर्वबन्धनैः ॥ १३ ॥
लोभजानि तथा राजन् बन्धनानि बलान्विताः ।
छित्वा योगाः परं मार्गं गच्छन्ति विमलं शिवम् ॥ १४ ॥
स एष च यदा राजन् वह्निर्जातबलः पुनः ।
समीरणगतः क्षिप्रं दहेत् कृत्स्नां महीमपि ॥ २० ॥
तद्वज्जातबलो योगी दीप्ततेजा महाबलः ।
अन्तकाल इवादित्यः कृत्स्नं संशोषमज्जगत् ॥ २१ ॥
तदेव च महास्रोतो विष्टम्भयति वारणः ।
तद्वद्योगबलं लब्धा व्यूहेत विषयान् बहून् ॥ २३ ॥
न यमो नान्तकः क्रुद्धो न मृत्युर्भीम विक्रमः ।
ईशते नृपते सर्वे योगस्यामिततेजसः ॥ २५ ॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३००)

जैसे बड़े मगरमच्छ जाल को काट कर फिर जल में चले जाते हैं उसी प्रकार योगी जन पाप बन्धन से छूटकर उस ब्रह्मपद को प्राप्त हो जाते हैं और जैसे बलवान् सिंह आदि जाङ्गलिक पशु पिंजरे आदि पाशबन्धनों को तोड़ कर सर्व बन्धनों से छूट कर विशाल मार्ग को प्राप्त हो जाते हैं। वैसे ही हे राजन्! बलवान्, आत्मबल वाले योगी जन लोभ वाले बन्धनों को काटकर विमल, ऊँचे कल्याण मार्ग को प्राप्त करते हैं। अग्नि जैसे बढ़ी हुई वायु से भड़काई हुई सारी पृथिवी को भी शीघ्र जला देती है इसी प्रकार आत्मबल वाला योगी दीप्त-तेजवाली अग्नि की भांति अन्त करने

वाले सूर्य की भांति जगत् को सुखा देता है। या जैसे स्रोत (जल के सोते) को बांध या हाथी रोक देता है इसी प्रकार योगी भी योग बल प्राप्त करके बहुत विषयों को रोक देता है। हे राजन्! अतुल बल वाले योगी के ऊपर उसकी भावना (धारणा) पर यम, अन्तक, भयंकर बलवान् मृत्यु भी क्रुद्ध हुआ स्वामित्व नहीं कर सकता।

योग के लाभ—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य नायोगाद् विन्दते सुखम्।
धृतिश्च दुःखत्यागश्चेत्युभयं तु सुखं नृप॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष अ० २८६। १६)

राजन्! अयोगी की बुद्धि ऊंची नहीं होती और न बिना योग के सुख प्राप्त करता है। धृति-स्थिर बुद्धि और दुःख त्याग ये दोनों सुख हैं जो योग से प्राप्त होते हैं।

स्थितप्रज्ञ योगयुक्त मनवाले योगी के लक्षण—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

(महा० भगवद्गीता पर्व० अ० २६ (३), ५५, ५८)

...न! जब मनुष्य मनोगत सब कामनाओं को छोड़ देता है और अपने आत्मा में ही स्वात्मा से सन्तुष्ट होता है, वह स्थित प्रज्ञ

(युक्त मन वाला) कहलाता है। दुःखों में जिसका मन न घबरा जावे और सुखों में स्पृहारहित हो, रागमय क्रोध से अलग हो वह स्थिर बुद्धि, स्थिर मन वाल मुनि कहा जाता है। जो सर्वत्र स्नेह रहित जन शुभ अशुभ, प्रिय अप्रिय को प्राप्त कर न हर्ष(राग) करता है, न द्वेष करता है उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित होती है। कछुवा जैसे अपने सारे अङ्गों को सङ्कुचित (अन्दर) कर लेता है इसी प्रकार जब जो अपनी इन्द्रियों को विषयों से हटा लेता है उसकी प्रज्ञा स्थित कही जाती है।

तथा—

अप्रमत्तो यथा धन्वी लक्ष्यं हन्ति समाहितः।
युक्तः सम्यक् तथा योगी मोक्षं प्राप्नोत्यसंशयम्॥
स्नेहपूर्णे यथा पात्रे मन आधाय निश्चलम्।
पुरुषो युक्त आरोहेत् सोपानं युक्तमानसः॥
युक्तस्तथायमात्मानं योगः पार्थिव निश्चलम्।
करोत्यमलमात्मानं भास्करोपमदर्शनम्॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३०० ३१—३३)

जैसे लक्ष्यवेधी धनुष आदि चलाने वाला निर्भ्रान्त सावधान हुआ लक्ष्य को बेधता है उसी प्रकार योगी योगयुक्त हुआ निःसंशय मोक्ष को प्राप्त करता है। जैसे तैल भरे पात्र को ले सीढ़ी पर निश्चल मन को लगाकर चढ़ता है इसी प्रकार योगयुक्त मनुष्य मन को लगाकर, एकाग्र कर योग की भूमि पर चलता है। राजन्! योगयुक्त मन वाला यह योगी अपने आत्मा को निश्चल करता है,एवं अपने आत्मा को सूर्य के समान तेजस्वी बनाता है।

योग धारणा के स्थान—

अवेक्ष्यात्मनि चात्मानं योगी तिष्ठति योऽचलः ।
पापं हन्ति पुनीतानां पदमाप्नोति सोऽजरम् ॥
नाभ्यां कण्ठे च शीर्षे च हृदि वक्षसि पार्श्वयोः ।
दर्शने श्रवणे चापि घ्राणे चामितविक्रम ॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३०० । ३८, ३९)

जो योगी नाभि, कण्ठ शिर, हृदय, छाती, पसवाड़ों, आँख, कान, नासिका में धारणा कर के, अपने आत्मा में परमात्मा को देख-कर अचल रहता है वह अपने पाप को नष्ट करता है । पवित्रात्माओं के अक्षय पद को प्राप्त होता है ।

आत्मा में परमात्मसाक्षात्कार—

विधूम इव सप्तार्चिरादित्य इव रश्मिमान् ।
वैद्युतोऽग्निरिवाकाशे दृश्यतेऽऽत्मा तथाऽऽत्मनि ॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० २०६ । २०)

धूमरहित शुभ्र अग्नि की भांति किरणों वाले सूर्य के समान एवं आकाश में विद्युद् रूप अग्नि के सदृश परमात्मा स्वात्मा में साक्षात् होता है ।

पितामह भीष्म का योग द्वारा प्राण त्याग—

धारयामास चात्मानं धारणासु यथाक्रमम् ।
तस्योर्ध्वमगमन्प्राणाः सन्निरुद्धा महात्मनः ॥

(महा० अनुशासन प० अ० १६८ । २)

भीष्म पितामह ने अपने आत्मा को योग धारणाओं में क्रमानु-सार धारण किया। पुनः उस महात्मा के रोके हुए प्राण बाहिर निकले ।

योगी के योग द्वारा प्राण त्याग की विधि—

विहाय सर्वसंकल्पान् बुद्धया शारीरमानसान्।
शनैर्निर्वाणमाप्नोति निरिन्धन इवानलः॥
इषीकां च यथा मुञ्जात् कश्चिन्निष्कृष्य दर्शयेत्।
योगी निष्कृष्य चात्मानं तथा पश्यति देहतः॥

(महा० आश्वमेधिक प० अ० १९। २२)

योगी बुद्धि से शारीरिक और मानसिक सब सङ्कल्पों को त्याग कर इन्धन रहित अग्नि की भांति धैर्य से देह से आत्म-ज्योति को अलग करता है। यथा जैसे कोई मनुष्य मुञ्ज घास के पौधे से सींख को निकाल कर दिखलाता है उसी प्रकार योगी देह से आत्मा को निकाल कर देखता है।



द्वादश पार्श्व

सद्व्रत-सत्यसंकल्प संस्थान

अहिंसा-माँसवर्जन आदि—

अहिंसा परमो धर्मः।

(महा० आदि० पौष्य० अ० ११। ११)

अहिंसा परम धर्म है।

अहिंसा से दीर्घ आयु—

अहिंसया च दीर्घायुरिति प्राहुर्मनीषिणः।

(महा० अनुशासन प०, अ० १६३। १२)

अहिंसा से दीर्घ आयु प्राप्त होती है ऐसा मनीषी जन कहते हैं।

अपने जैसा दूसरे का जीवन समझ घात न करना—

जीवितं यः स्वयं चेच्छेत् कथं सोऽन्यं प्रघातयेत्।
यद्यदात्मनि चेच्छत् तत् तत्परस्यापि चिन्तयेत्॥

(महा० शान्त प० मोक्ष० अ० २५९। २२)

जो मनुष्य स्वयं जीना चाहता है वह कैसे दूसरे को मारता है? जो जो अपने लिये चाहे उस उस को दूसरे के लिये भी सोचना चाहिए।

दया श्रेष्ठ धर्म है—

अनुक्रोशो हि साधूनां महद्धर्मस्य लक्षणम्॥
अनुक्रोशश्च साधूनां सदा प्रीतिं प्रयच्छति॥

(महा० अनुशासनप० अ० ५। २४)

सज्जनों के लिये दया उत्तम धर्म का चिन्ह है, दया सज्जनों के लिये सदा प्रीति प्रदान करती है।

मांस भक्षण वेदविरुद्ध—

सुरा मत्स्या मधु मांसमासवं कृसरौदनम् ।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद्वेदेषु कल्पितम् ॥
(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० २६५ । ९)

सुरा-मद्य (पान मछली) भक्षण, मधु (मद्य का भेद), मांस, आसव (कच्ची शराब), मांस रस वाले चावल ये धूर्तजनों ने चला दिया है, इनका वेद में विधान नहीं किया है।

न मांस खाना और न मारना चाहिए—

न भक्षयति यो मांसं न हन्यान्न च घातयेत् ।
तन्मित्रं सर्वभूतानां मनुः स्वायम्भवोऽब्रवीत् ॥
(महा० अनुशासन प० अ० ११५ । १२)

जो मनुष्य न मांस खाता हो, न किसी को मारे या घात पहुंचावे वह सब प्राणियों का मित्र है ऐसा स्वयम्भु पुत्र मनु ने कहा है।

अन्य का मांस खाना अपने पुत्र का मांस खाने के समान जानना—

पुत्रमांसोपमं जानन् खादते यो विचक्षणः ।
मांसं मोहसमायुक्तः पुरुषः सोऽधमः स्मृतः ॥
(महा० अनुशासन प० अ० ११४ । ११)

अन्य का मांस खाना पुत्र का मांस खाने के समान जानता हुआ भी जो मोहवश खाता है वह अधम मनुष्य है।

मांस न खाने वाला दानी और तपस्वी पुण्यात्मा है—

सदा यजति सत्रेण सदा दानं प्रयच्छति ।
सदा तपस्वी भवति मधुमांसविवर्जनात् ॥
(महा० अनुशासन प० अ० ११५ । १७)

मद्य मांस के त्याग से मनुष्य सदा सत्र से यज्ञ करता है, सदा दान देता है, सदा तपस्वी होता है।

मांस न खाने वाला अश्वमेधयाजी के समान—

यो यजेताश्वमेधेन मासि मासि यतव्रतः।
वर्जयेन्मधुमांसं च सममेतद् युधिष्ठिर॥

(महा० अनुशासन प० अ० ११५।१०)

जो मनुष्य अश्वमेध से मास मास में यत्न से भी यज्ञ करे और मद्य मांस का सेवन छोड़े तो दोनों समान हैं।

यज्ञ में मांस निषेध—

नायं धर्मकृतो यज्ञो न हिंसा धर्म उच्यते।
आगमेनैव ते यज्ञं कुर्वन्तु यदि चेच्छसि॥
विधिदृष्टेन यज्ञेन धर्मस्ते सुमहान् भवेत्।
यज बीजैः सहस्राक्ष त्रिवर्षपरमोषितः॥

(महा० आश्वमेधिक प० अ० ९१। १५, १६)

ऋषि लोग इन्द्र से कहते हैं कि हे इन्द्र ! मांस जिस यज्ञ में डाला जावे वह यज्ञ धर्म से युक्त नहीं है। हिंसा धर्म नहीं कहा जाता। वेद से तेरा यज्ञ ऋत्विक् सम्पादन करें यदि तू यज्ञ करना चाहता है। विधि पूर्वक किये यज्ञ से तुझे महान् धर्म होगा। अतः मांस से नहीं, किन्तु तीन वर्ष तक सम्पन्न ओषधि बीजों से यज्ञ कर।

आलभ्भन का अर्थ स्पर्श न कि मारना काटना—

ततः सहस्रं विप्राणां चतुर्वेदविदां तथा।
गवां सहस्रेणैककं वाचयामास माधवः॥
मङ्गलालम्भनं कृत्वा आत्मानमवलोक्य च।
(मङ्गलानां गवामालम्भनं स्पर्शनम्) (नील कण्ठः)

(महा० शान्ति प० राजधर्म अ० ५३। ८, ९)

श्री कृष्ण ने चतुर्वेदवेत्ता सहस्र विद्वानों के निमित्त सहस्र गौओं में से एक एक देने का वचन किया तथा अपनी ओर देखकर गौओं का मङ्गल-शुभ आलम्भन अर्थात् स्पर्श दान के साथ किया। यहाँ संस्कृत भाष्यकार नीलकण्ठ ने भी आलम्भन का अर्थ स्पर्श किया है। यज्ञ में आलम्भन का अर्थ मारना, हिंसा करने वालों के लिये यह विचारने योग्य है।

यज्ञ में अज शब्द से तात्पर्य ओषधि बीजों से है बकरे से नहीं—

बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः।
अजसंज्ञानि बीजानि छागो नो हन्तुमर्हति॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३४० । १९-२०)

यज्ञों में बीजों-ओषधिबीजों से यजन करना चाहिए यह वैदिक श्रुति, (प्रसिद्धि आज्ञा) है। अज नामक बीज होते हैं अज कथन से बकरा यज्ञ में नहीं मारना चाहिए।

अपने जैसा दूसरे का जीवन समझना मांस खाना पाप है—

प्राणा यथाऽऽत्मनोऽभीष्टा भूतानामपि वै तथा।
आत्मौपम्येन मन्तव्यं बुद्धिमद्भिः कृतात्मभिः॥ २१॥
मृत्युतो भयमस्तीति विदुषां भूतिमिच्छताम्।
किं पुनर्हन्यमानानां तरसा जीवितार्थिनाम्॥ २२॥
अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परं तपः।
अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते॥ २५॥
न हि मांसं तृणात् काष्ठादुपलाद्वापि जायते।
हत्वा जन्तुं ततो मांसं तस्माद् दोषस्तु भक्षणे॥ २६॥

(महा० अनुशासनप० अ० ११५)

जैसे अपने प्राण मनुष्य को अभीष्ट हैं वैसे दूसरे प्राणियों को भी अपने प्राण अभीष्ट हैं ऐसा समझ दार आत्मवान् जनों को अपनी तुलना से दूसरों के प्रति मानना चाहिए। ऊंचे जाने वाले विद्वानों को भी मृत्यु से भय है, पुनः सामान्य मारे जाने वाले जीवनेच्छुक प्राणियों को मृत्यु से भय का कहना ही क्या ? अहिंसा परम धर्म तथा अहिंसा परम तप, अहिंसा परम सत्य है इससे ही धर्म प्रवृत्त होता है। मांसभोजियों को मांस कोई घास से, काष्ठ से, या पत्थर से नहीं मिलता किन्तु प्राणी को मार कर ही तो मांस मिलता है अतः मांस भक्षण में पाप है।

मांसभक्षी महापातकी—

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति।
नास्ति क्षुद्रतरस्तस्मात्स नृशंसतरो नरः॥

(महा० अनुशासन प० अ० ११६। ११)

जो मनुष्य दूसरे प्राणी के मांस से अपने मांस को बढाना चाहता है वह मनुष्य अत्यन्त नीच, अतिपातकी है।

प्रतिहिंसा भी न करने वाला श्रेष्ठ है—

यो नात्युक्तः प्राह रूक्षं प्रियं वा।
यो वा हतो न प्रतिहन्ति धैर्यात्॥
पापं च यो नेच्छतिम् तस्य हन्तुः।
तस्येह देवाःस्पृहयन्ति नित्यम्॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० २९९। १७)

जो दूसरे के द्वारा अपशब्द से अपमानित किया हुआ बदले में रूखा या प्रिय प्रत्युत्तर न दे तथा जो दूसरे द्वारा मारा पीटा हुआ भी धैर्य से प्रतिघात नहीं करता, उस मारने वाले का अहित नहीं चाहता, उसे देव जन चाहते हैं।

वाणी के बाण गहरे चुभते हैं—

रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम्।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न संरोहते वाक्क्षतम्॥
कर्णिनालीनाराचान्निर्हरन्ति शरीरतः।
वाक्शल्यस्तु न निर्हर्तुं शक्यो हृदिशयो हि सः॥
वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति यैराहतः शोचति राज्यहनि।
परस्य ना मर्मसु ते पतन्ति तान् पण्डितो नावसृजेत् परेभ्यः॥

(महा० उद्योग प० अ० ३४। ७८—८०
"वाक्सायक०" शान्ति प० मो० अ० २११। ६,
'वाक्सायक····रोहते' अनुशासन अ० १०९। ३२, ३३)

बाणों से बंधा-छिदा एवं कुठार से कटा वन उग जाता है, किन्तु वाणी से ताड़ित बुरा घाव नहीं भरता है। कर्णि नाली नाराच अस्त्र शस्त्रों को शरीर से निकाल देते हैं किन्तु वाणी का बाण या कांटा नहीं निकाला जा सकता क्यों कि वह हृदय में घुस जाने वाला होता है। वाणी के बाण मुख से निकलते हैं जिनसे आहत (चोट खाया) जन रात-दिन शोच करता है वे दूसरे के अमर्म स्थलों में नहीं गिरते, अपितु मर्म स्थानों में गिरते हैं अतः बुद्धिमान् उन्हें दूसरों के लिये न छोड़े।

सत्य भाषण—

असत्य भाषण का स्थान—

प्राणत्यागेऽनृतं वाच्यमात्मनो वा परस्य च।

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३४। २५)

सदा सत्य भाषण करे परन्तु प्राण त्याग के अवसर पर असत्य भाषण करना चाहिए वह अवसर अपने प्राणों के जाने का हो या दूसरे के प्राणों के जाने का हो।

स्वीकार करके वचन पूरा करना चाहिए—

यो न दद्यात्प्रतिश्रुत्य स्वल्पं वा यदि वा बहु ।
आशास्तस्य हताः सर्वाः क्लीबस्येव प्रजाफलम् ॥
(महा० अनुशासनप० अ० ९ । ३)

जो मनुष्य स्वीकार करके थोड़ा बहुत न दे उसकी सब आशाएं नष्ट हो जावेंगी जैसे नपुंसक जन के सन्तान का अभाव हो जाता है।

अति संग्रह दोष युक्त है—

आवश्यकताएं बढ़ाना या अति संग्रह करना दुःख दायक है—

विस्तराः क्लेशसंयुक्ताः संक्षेपास्तु सुखावहाः ।
परार्थं विस्तराः सर्वे त्यागमात्महितं विदुः ॥
(महा० शांति प० मोक्ष० अ० २९८ । २०)

आवश्यकताएं बढ़ाना एवं अति संग्रह रखना दुःख से युक्त है थोड़ी आवश्यकताएं रखना या अल्प संग्रह रखना सुख दायक है तथा अतिसंग्रह तो दूसरों के लिये हो जाता है। त्याग अपना हित साधक है ऐसा सज्जन जानते हैं।

धन के पीछे पड़ने में दुःख—

ईहा धनस्य न सुखा लब्ध्वा चिन्ता च भूयसी ।
लब्धनाशे यथा मृत्युर्लब्धं भवति वा न वा ॥
(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० १७७ । २६)

धनप्राप्ति के लिये चेष्टा करना सुखदायक नहीं, धन प्राप्त करके बहुत चिन्ता लग जाती है, प्राप्त धन के नाश में मृत्यु सा दुःख और जिस धन प्राप्ति के लिये दौड़ धूप की जाती है वह प्राप्त होता है, नहीं भी होता है।

धनवालों को दुःख—

राजतः सलिलादग्नेश्चोरतः स्वजनादपि ।
भयमर्थवतां नित्यं मृत्योः प्राणभृतामिव ॥
(महा० वनप० अ० २ । ३८)

धनवालों को राजा शासक-वर्गराज-कर्मचारी से जल से, अग्नि से, चोर से और अपने जन से भी भय ऐसा रहता है जैसा प्राणी को मृत्यु से ।

दान-भोज-यज्ञ—

दान की शुद्धविधि—

शुभेन विधिना लब्धमर्हाय प्रतिपादयेत् ।
क्रोधमुत्सृज्य दद्याच्च नानुतप्येन्न कीर्तयेत् ॥
(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३०९ । १३)

शुभ विधि से-धर्म से प्राप्त धन आदि वस्तु पूजनीय जन को दान दे परन्तु क्रोध को छोड़ कर दे, देकर पश्चात्ताप न करे और देकर चर्चा न करे ।

न्याय से प्राप्त का दान श्रेष्ठ है—

न धर्मः प्रीयते तात दानैर्दत्तैर्महाफलैः ।
न्यायलब्धैर्यथा सूक्ष्मैः श्रद्धापूतैः स तुष्यति ॥
(महा० आश्वमेधिक प० अ० ९० । ९८)

धर्म महाफल वाले, दिये दानों से प्रसन्न नहीं होता (बढ़ता या प्राप्त नहीं होता) किन्तु जैसे न्याय से प्राप्त थोड़े से भी श्रद्धा से पवित्र दानों से वह सन्तुष्ट होता है, पूर्ण होता है ।

दान के पात्र—

अनृशंसः शुचिर्दान्तः सत्यवागार्जवे स्थितः ।
योनिकर्मविशुद्धश्च पात्रं स्याद् वेदविद् द्विजः ॥
(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३०९ । १४)

दयाशील, पवित्र, जितेन्द्रिय, सत्यभाषी, सरल स्वभाव वाला, कुल और स्वकर्म से पवित्र, वेदवेत्ता ब्राह्मण दान का पात्र है।

तथा—

कृशाय कृतविद्याय वृत्तिक्षीणाय सीदते।
अपहन्यात् क्षुधां यस्तु न तेन पुरुषः समः॥
क्रियानियमितान् साधून् पुत्रदारैश्च कर्शितान्।
अयाचमानान् कौन्तेय! सर्वोपायैर्निमन्त्रयेत्।

(महा० अनुशासन प० अ० ५९। ११,१२)

हे युधिष्ठिर! शरीर से कृश, दुर्बल, निर्बल, विद्यावान्, आजीविका रहित, पीड़ित जन के लिये देकर जो उसकी क्षुधा को मिटावे उसके समान सज्जन अन्य नहीं हो सकता। जिन का धार्मिक क्रियाओं से जीवन नियमित हो उन ऐसे सज्जनों को तथा जो कि पुत्र, स्त्री आदि पारिवारिक जनों के निर्वाह भार से दबे हुए दुर्बल-निर्बल हों तथा मांगने में सङ्कोच करने वाले हों समस्त उपायों से भोजन आदि दान के लिये निमन्त्रण दे।

दान किन को देने पर सफल होता है—

अक्रोधना धर्मपराः सत्यनित्या दमे रताः।
तादृशाः साधवो विप्रास्तेभ्यो दत्तं महाफलम्॥
अमानिनः सर्वसहा दृढार्था विजितेन्द्रियाः।
सर्वभूतहिता मैत्रास्तेभ्यो दत्तं महाफलम्॥
अलुब्धा शुचयो वैद्या ह्रीमन्तः सत्यवादिनः।
स्वकर्मनिरता ये च तेभ्यो दत्तं महाफलम्॥
साङ्गांश्च चतुरो वेदानधीते यो द्विजर्षभः।
षड्भ्यः प्रवृत्तः कर्मभ्यस्तं पात्रमृषयो विदुः॥

ये त्वेवं गुण जातीयास्तेभ्यो दत्तं महाफलम् ।
सहस्रगुणमाप्नोति गुणार्हाय प्रदायकः ॥
प्रज्ञाश्रुताभ्यां वृत्तेन शीलेन च समन्वितः ।
तारयेत् कुलं सर्वमेकोऽपीह द्विजर्षभः ॥
गामश्वं वित्तमन्नं वा तद्विधे प्रतिपादयेत् ।
द्रव्याणि चान्यानि तथा प्रेत्यभावे न शोचति ॥
तारयेत कुलं सर्वमेकोऽपीह द्विजोत्तमः ।
किमङ्ग पुनरेवैते तस्मात् पात्रं समाचरेत् ॥
निशम्य च गुणोपेतं ब्राह्मणं साधुसम्मतम् ।
दूरादानाय्य सत्कृत्य सर्वतश्चापि पूजयेत् ॥
(महा० अनुशासन प० अ० २२ । ३३, ४१)

क्रोध न करने वाले धर्मपरायण सदा सत्यसेवी इन्द्रियदमन शील, सज्जन विद्वान् हों उनको दिया हुआ दान महाफल वाला होता है। जो मान-अपमान रहित, सर्वसहनशील, दृढ निश्चय वाले जितेन्द्रिय, सर्व प्राणियों के हित साधक, मित्र भाव रखने वाले हैं उनको दिया हुआ दान महाफलदायक है। जो अलोभी पवित्र वैद्य, लज्जाशील, सत्यवादी, अपने कर्म में लगे हुए हैं उनको दिया हुआ दान महाफल वाला है। जो विद्वान् अङ्गों सहित चारों वेदों को पढ़ता है षट्कर्मों से प्रवृत्त उसे ऋषि जन 'पात्र' कहते हैं। ऐसे गुणवाले सज्जन हों उनको दान फलदायक है क्यों कि गुणों से योग्य को देने वाला दाता सहस्रगुण फल प्राप्त करता है। बुद्धि और ज्ञान से, आचार से, शील से युक्त उत्तम विद्वान् एक भी सारे कुल को तार देता है। गौ, घोड़ा, धन, अन्न तथा अन्य द्रव्यों को ऐसे महानुभाव को समर्पित करे तो पुनर्जन्म में दाता शोच नहीं करता है। एक भी ऐसा उत्तम ब्राह्मण समस्त कुल को तार देता है; पुनः

ये ऐसे बहुत तो क्या न कर सकेंगे, अतः पात्र को प्राप्त करे, पात्र को दे। गुणों से सम्पन्न सज्जनों में मानित ब्राह्मण को कहीं सुनकर दूर से भी बुलाकर सत्कार करके सर्वतो भाव से उसकी पूजा करे।

दान के अस्थान—

न दद्याद् यशसे दानं, न भयान्नोपकारिणे।
न नृत्यगीतशीलेषु हासकेषु, च धार्मिकः॥

(महा० शान्ति प० राजधर्म० अ० ३६। ३६)

धार्मिक जन दान यश को लक्ष्य करके न दे, भय से, दवाब से भी न दे और मेरा उपकार करता है या करेगा इस स्वार्थ को सम्मुख रख कर भी न दे तथा नाचने वालों, गाने वालों को एवं हास्य उपहास करने वालों को न दे।

स्वधर्म से गिरे हुए अधर्मी को देना दोष है—

ये स्वधर्मादपेतेभ्यः प्रयच्छन्त्यल्पबुद्धयः।
शतं वर्षाणि ते प्रेत्य पुरीषं भुञ्जते जनाः॥

(महा० शान्ति प० राजधर्म० अ० २६। २९)

जो मन्दबुद्धि जन स्वधम अपने कर्तव्य) से च्युत जन होगए, उनको दान देते ह, वे मर कर सौ वर्ष तक मल का भोजन करते हैं। ❀

अन्याय से प्राप्त धन का दान फलदायक नहीं होता—

अन्यायोपगतं द्रव्यमभीक्ष्णं यो ह्यपण्डितः।
धर्माभिशङ्की यजते न स धर्मफलं लभेत्॥
धर्मवैतंसिको यस्तु पापात्मा पुरुषाधमः।
ददाति दानं विप्रेभ्यो लोकविश्वासकारणम्॥

❀ यह अत्युक्ति है।

पापेन कर्मणा विप्रो धनं प्राप्य निरङ्कुशः।
रागमोहान्वितः सोऽन्ते कलुषां गतिमश्नुते॥
एवं लब्ध्वा धनं मोहाद् यो हि दद्याद् यजेत वा।
न तस्य स फलं प्रेत्य भुंक्ते पापधनागमात्॥

(महा० आश्वमे० प० ९१ । २७—३१)

जो अबुद्धिमान् अन्याय से प्राप्त धन का पुनः पुनः भी धर्म लाभ के लिये यजन करता है वह धर्म फल को प्राप्त नहीं होता है। जो धर्म का वञ्चक पापी अधम मनुष्य विद्वानों को दान लोक में विश्वास कराने को देता है वह विद्वान् भी निरङ्कुश जन पाप कर्म से धन प्राप्त करके राग मोह से युक्त जन अन्त में दूषित गति को प्राप्त होता है। इस प्रकार जो मोह से धन को प्राप्त करके दान दे या यजन करे, वह उस पाप-धन की प्राप्ति से मर कर उसका फल नहीं भोगता है।

ज्ञान दान अमूल्य दान है—

पृथिवीमिमां यद्यपि रत्नपूर्णां दद्यान्न देयं त्विदमव्रताय।
जितेन्द्रियायैतदसंशयं ते भवेत्प्रदेयं परमं नरेन्द्र!॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३०८ । ३७)

राजन्! यह ज्ञान अव्रती (नियम धर्म रहित) जन को न देना चाहे वह बदले में रत्नों से पूर्ण इस पृथिवी को भी दे, परन्तु जितेन्द्रिय जन को यह उत्कृष्ट ज्ञान निःसन्देह देना है।

श्राद्ध—ब्रह्म भोज—

भगवंश्चिरेण पात्रमासाद्यते, भवांश्च गुणवानतिथि।
स्तदिच्छे श्राद्धं कर्तुं क्रियतां क्षण इति॥

(महा० आदि पर्व० पौष्य अ० २ । १४४)

पौष्य ने अभ्यागत उत्तङ्क ऋषि से भोजन के लिये प्रार्थना की कि भगवन् ! पात्र देर से प्राप्त होता है आप गुणवान् अतिथि हैं श्राद्ध अर्थात् आप को भोजन कराना चाहता हूं कुछ समय ठहरें।

नकार करने या दान देने में आत्म निरीक्षण प्रमाण—

प्रत्याख्याने च दाने च सुखदुःखे प्रियाप्रिये।
आत्मौपम्येन पुरुषः प्रमाणमधिगच्छति ॥

(महा० अनुशासन प० ० अ० ११३ । ९)

नकार करने या देने में सुख दुःख और प्रिय-अप्रिय लगने में अपनी उपमा से मनुष्य प्रमाण को प्राप्त करता है अर्थात् मैं इस स्थिति में हूं मुझे कोई नकार करे या दे तो क्या होगा ? तथा यह सुखदायक है या दुःखदायक मुझे प्रिय लगता है या अप्रिय लगता है ऐसा समझ आचरण करे।

श्रेयो वै याचतः पार्थ दानमाहुरयाचते।
अर्हत्तमो वै धृतिमान् कृपणादधृतात्मनः ॥

(महा० अनुशासन प० अ० ६० । २)

हे युधिष्ठिर ! मांगने वाले की अपेक्षा न मांगने वाले अधिकारी को दान देना श्रेष्ठ कहते हैं, कारण कि धैर्य रहित की अपेक्षा धैर्यवान् मनुष्य अधिक पूजनीय है।

किस के निमित्त किस का त्याग करना योग्य है—

*त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥

(महा० आदि प० सम्भव प० अ० ११५ । ३८)

कुल के हितार्थ एक व्यक्ति को छोड़ना, ग्राम के हितार्थ कुल

* 'त्यजेत्कुलार्थे पुरुषम्' (महाभा० सभा० अ० ६४ । १६)

को छोड़ देना, देश के हितार्थ ग्राम को छोड़, देना, अपने हित के लिये पृथिवी को छोड़ देना श्रेष्ठ है।

यज्ञ—

यज्ञ से देवों का स्वागत करना हितकर है—

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्यस्थ।

(महा० सभाप० द्यूत० अ० ६४। १६)

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायेभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः॥

(महा० भीष्मप० भगवद्गीता प० २७ (३) ११, १२)

इस यज्ञ से देवों-विद्वानों एवं भौतिक वायु आदि दिव्य पदार्थों को सत्कृत एवं संस्कृत करो तभी वे देव-विद्वान् एवं वायु आदि भौतिक दिव्य पदार्थ तुम्हें भी सत्कृत एवं संस्कृत-गुण युक्त कर सकेंगे। यज्ञ से सत्कृत एवं सत्कृत देव-विद्वान् एवं वायु आदि भौतिक दिव्य पदार्थ तुम्हें इष्ट फल दे सकेंगे, पुनः उनके द्वारा दिये हुए पदार्थों को उन्हें न देकर जो भोगता है वह चोर है।

अन्याय से प्राप्त धन द्वारा यज्ञ करने का फल नहीं होता—

अन्यायोपगतं द्रव्यमभीक्ष्णं यो ह्यपण्डितः।
धर्माभिशङ्की यजते न स धर्मफलं लभेत्॥

(महा० आश्वमेधिकप० अ० ९१)

अन्याय से प्राप्त धन का जो अबुद्धिमान जन धर्म मान कर यज्ञ करता है वह धर्म फल नहीं प्राप्त करता है।

यज्ञ में पशुहिंसा निषिद्ध है—

आलम्भन शब्द स्पर्श के अर्थ में—

ततः सहस्रं विप्राणां चतुर्वेदविदां तथा।
गवां सहस्रेणैकैकं वाचयामास माधवः॥

मङ्गलालम्भनं कृत्वा आत्मानमवलोक्य च ।
"मङ्गलानां गवामालम्भनं स्पर्शनम्" नीलकण्ठः
(महा० शान्ति प० राज० अ० ५३ । ८-२)

तब चतुर्वेदवेत्ता सहस्र ब्राह्मणों ऋषियों को एक एक सहस्र गौवें देने का सङ्कल्प श्री कृष्ण ने किया अपने को देख गौवों का मङ्गलमय आलम्भन अर्थात् स्पर्श किया ।

यज्ञ में गौ आदि के सम्बन्ध में जहां आलम्भन शब्द आता है, वहां उस का हिंसा ही अर्थ लेना उचित नहीं जब कि आलम्भन शब्द स्पर्श के अर्थ में आता है।

बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः ।
अजसंज्ञानि बीजानि च्छागं नो हन्तुमर्हति ॥
(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३३७ । १)

ओषधि बीजों से यज्ञ करना चाहिए यही वैदिक प्रसिद्धि है, 'अज' नाम के ओषधि बीज हैं बकरा नहीं मार सकते ।

नायं धर्मकृतो यज्ञो न हिंसा धर्म उच्यते ।
आगमेनैव तं यज्ञं कुर्वन्तु यदि चेच्छसि ॥
विधिदृष्टेन यज्ञेन धर्मस्ते सुमहान् भवेत् ।
यज बीजैः सहस्राक्ष ! त्रिवर्षपरमोषितैः ॥
(महा० अश्वमेधिकाप० अ० ९१ । १५, १६)

हिंसा वाला यज्ञ धर्मानुकूल नहीं है हिंसा करना धर्म नहीं कहा जाता, वेद से उस यज्ञ को करना चाहिए यदि यज्ञ करना चाहते हो वेद विधि के अनुसार यज्ञ से महान् धर्म प्राप्त होता है अतः हे इन्द्र ! तीन वर्ष तक संगृहीत ओषधि बीजों से यज्ञ कर ।

तप का लाभ—

यद्दुरापं भवेत् किञ्चित् तत् सर्वं तपसे भवेत् ।
ऐश्वर्यमृषयः प्राप्तास्तपसैव न संशयः ॥
(महा० शान्त प० आपद्धर्म० अ० १६१ । ५)

जो कुछ दुर्लभ हो वह सब तप से प्राप्त हो जाता है, ऋषियों ने तप से ऐश्वर्य प्राप्त किया है इसमें सन्देह नहीं है ।

शरीर को सुखाना, पीड़ा पहुचाना आदि तप नहीं है—

मासार्धमासोपवासाद् यत्तपो मन्यते जनः ।
आत्मतन्त्रोपघाती यो न तपस्वी न धर्मवित् ।
त्यागस्य चापि सम्पत्तिः शिष्यते तप उत्तमम् ।
सदोपवासी च भवेद् ब्रह्मचारी तथैव च ॥
(महा० अनुशासनप० अ० ९३ । ५)

मास अर्ध मास उपवास करना जो मनुष्य तप मानता है और अपने शरीर को पीड़ा पहुंचाना तप मानता है वह न तपस्वी न धर्म वेत्ता है, किन्तु त्याग की प्राप्ति उत्तम तप है वह सदा उपवासी है जो ब्रह्मचारी है ।

मानसिक उद्वेग आदि—

सात्विक आदि वृत्तियां—

प्रहर्षः प्रीतिरानन्दः सुखं संशान्तचित्तता ।
कथञ्चिदुपपद्यन्ते पुरुषे सात्विका गुणाः ॥
परिदाहस्तथा शोकः सन्तापोऽपूर्तिरक्षमा ।
लिङ्गानि रजसस्तानि दृश्यन्ते हेत्वहतुभिः ॥
अविद्यारागमोहौ च प्रमादः स्तब्धता भयम् ।
असमृद्धिस्तथा दैन्यं प्रमोहः स्वप्नतन्द्रिता ॥
कथञ्चिदुपवर्तन्ते विविधास्तामसाः गुणाः ।
(महा० शान्ति प० मोक्ष अ० २८५ । २६,२८)

अति हर्ष प्रीति आनन्द सुख शान्तचित्तता सात्विक गुण मनुष्य में कभी प्राप्त होते हैं। ईर्ष्या-डाह शोक, सन्ताप, अतृप्ति, (असन्तोष) असहनशीलता ये रजोगुण के लक्षण अपने अपने हेतुओं और अहेतुओं से दिखलाई पड़ते हैं। अविद्या, राग मोह, प्रमाद, स्तब्धता (जड़ता) भय, दरिद्रता, दीनता, प्रमोह (मूर्च्छा) स्वप्न (निद्रा का आलस्य) आदि विविध तामसिक गुण कभी-कभी वर्तमान होते हैं।

तथा—

आनन्दः प्रीतिरुद्रेगः प्रकाश्यं पुण्यशीलता।
सन्तोषः श्रद्दधानत्वमार्जवं त्यागशीलता॥
ऐश्वर्यं चेति सत्त्वस्य गुणादश निसर्गजाः।
आस्तिक्यमकार्पण्यं सुखदुःखोपसेवनम्॥
भेदः पुरुषता चैव कामक्रोधौ मदस्तथा।
दर्पद्वेषातिवादाश्च नवैते रजसो गुणाः॥
तमोमोहो महामोहस्तामिस्रश्चान्धः पञ्चमः।
निद्राप्रमाद आलस्यमित्यष्टौ तमसो गुणाः॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३०१)

आनन्द, प्रीति, उद्वेग,-प्रेमोद्गार, ज्ञानप्रकाशता, पुण्य-शीलता, सन्तोष, श्रद्धा, ऋजुता, त्यागभाव, ऐश्वर्य ये दश गुण स्वाभाविक सात्विक हैं। आस्तिकता, उदारता, सुख दुःख का सेवन, भेद (फूट), पुरुषार्थ, काम, क्रोध, मद, दर्प, द्वेष, अधिक बोलना, ये नौ राजसिक गुण हैं। तम, मोह, महामोह, तामिस्र, निद्रा, प्रमाद, आलस्य, ये आठ तामसिक गुण हैं।

वासना का प्रभाव—

यथा चाल्पेन माल्येन वासितं तिलसर्षपम्।
न मुञ्चति स्वकं गन्धं तद्वत्सूक्ष्मस्य दर्शनम्॥

तदेव बहुभिर्माल्यैर्वास्यमानं पुनः पुनः ।
विमुञ्चति स्वकं गन्धं माल्यगन्धेश्च तिष्ठति ॥
(महा० शान्ति० मोक्ष अ० २८० । १४, १५)

जैसे थोड़े फूल से वासित तिल और सरसों अपनी गन्ध नहीं छोड़ते ऐसे ही थोड़े से दर्शन का प्रभाव नहीं पड़ता किन्तु जब बहुत फूलों से बार बार तिल या सरसों वासित किए जावें तो वह अपनी गन्ध को छोड़ देते हैं और फूलों के गन्धों से प्रभावित हो रहते हैं ऐसे ही मन में किसी वस्तु की पुनः पुनः वासनाएं प्रभाव डालकर ही रहती हैं ।

तृष्णा (लालसा)—

जीर्यन्ति जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यते ।
चक्षुः श्रोत्रे च जीर्येते तृष्णैका च न जीर्यते ॥
(महा० अनुशासनप० अ० ७ । २४)

जीर्ण (शीर्ण) होते हुए मनुष्य के केश जीर्ण हो जाते हैं, दांत भी जीर्ण हो जाते हैं, आँख कान भी जीर्ण हो जाते हैं पर एक तृष्णा ही जीर्ण नहीं होती ।

तृष्णा हि सर्वपापिष्ठा नित्योद्वेगकरी स्मृता ।
अधर्मबहुला चैव घोरा मायानुबन्धिनी ॥
या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः ।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ॥
(म ा० वनप० अरण्य० अ० २ । ३५, ३६
शान्ति प० मोक्ष० अ० ७४ । ५५ अ० २७६ । १२)

तृष्णा (लालसा) सब पापों में अधिक पाप रूपा है, नित्य व्याकुल करने वाली समझी गई है, अधर्म से भरी हुई भयङ्कर पाप को साथ लिये हुए है, दुष्ट मति वालों से छूटने वाली नहीं, जो जीर्ण

होते हुए भी जीर्ण नहीं होती जो कि प्राणों के अन्त तक रहने वाला रोग है उस तृष्णा को छोड़ने वाले को ही सुख होता है।

भावना जैसी हो वैसा जीवन बना करता है—

वने ग्राम्यसुखाचारो यथा ग्राम्यस्तथैव सः।
ग्रामे वनसुखाचारो यथा वनचरस्तथा॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३०९। १०)

वन में नागरिक सुख व्यवहार वाला मनुष्य नागरिक जैसा ही है और नगर में रहता हुआ वनवासी की भांति सुख व्यवहार करने वाला जैसा वनवासी (वानप्रस्थ) है वैसा ही है। (भावना ऊंची होनी चाहिए)।

क्रोध आदि—

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं विधित्सावेगमुदरोपस्थवेगम्।
एतान् वेगान् यो विषहेदुदीर्णांस्तं मन्येऽहं ब्राह्मणं वै मुनिं च॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० २९९। १४)

जो मनुष्य उठे हुए वाणी के वेग, मन के और क्रोध, के वेग, तृष्णा वेग बुभुक्षा वेग, और उपस्थेन्द्रिय वेग को स्ववश करले उसे ब्राह्मण और मुनि मानता हूं।

शोक—

बुद्धिमन्तं कृतप्रज्ञं शुश्रूषुमनसूयकम्।
दान्तं जितेन्द्रियं चापि शोको न स्पृशते नरम्॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० १७४। ४१)

बुद्धिमान्, विवेकवान्, सेवाशील, अनिन्दक, दमनशील, जितेन्द्रिय, को शोक स्पर्श नहीं करता है।

सावधानता (प्रज्ञा) से शोक भय आदि के पार होना—

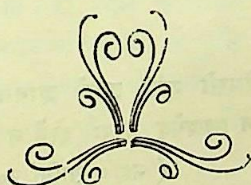
(पृष्ठ नं० ९०-९१ में श्लोक नं० ३३-३८ तथा उनका अर्थ भी इस प्रसंग में देखें)।

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशान्ति न पण्डितम् ॥
(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३३० । २)

सहस्रों शोक स्थान, सैकड़ों भयस्थान आए दिन मूढ को प्राप्त होते हैं, बुद्धिमान् को नहीं।

ततो दुःखोदकं घोरं चिन्ताशोकमहाह्रदम्।
व्याधिमृत्युमहाग्राहं महाभयमहोरगम् ॥
तमः कूर्मः रजो मीनं प्रज्ञया सन्तरन्त्युत।
(महा० शान्ति मोक्ष० अ० ३३१ ६४)

दुःख जिसमें जल है ऐसे घोर चिन्ता शोक रूप महान् नद जो रोग मृत्यु रूप महा ग्राह वाले तथा भारी भय रूप सर्प वाले, तमोगुण रूप कछुआ और रजोगुण रूप जिस में मछली है उसे बुद्धि से तैर लेते हैं।



त्रयोदश पार्श्व

सुख-दुःख-अभ्युदय-संस्थान

सुख—

सन्तोष महान् सुख—

> यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
> सन्तोष सुखस्यैते नार्हतः शोड्षीं कलाम् ॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० २७६ । ६)

संसार में जो भोग सुख है और जो परलोक का दिव्य महासुख है ये दोनों सन्तोष रूप सुख की सोलहवीं कला को भी प्राप्त नहीं कर सकते ।

> अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः ।
> आत्मनैव सहायेन यश्चरेत् स सुखी भवेत् ॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष अ० ३३० । ३०)

अपने आत्मा में रमण करने वाला, किसी की अपेक्षा न रखने वाला, मांस भोजन रहित, अपने भरोसे रहने वाला जन सुखी होता है ।

सच्चा सुख—

तथा—

> असङ्गः श्रेयसो मूलं ज्ञानं ज्ञानगतिः परा ।
> चीर्णतपो न प्रणश्येद् वापः क्षेत्रे न नश्यति ॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष अ० २९८ । ३)

असङ्ग (निर्लेपता-लगाव न रखना) कल्याण का मूल है, परा अर्थात् श्रेयःसम्बन्धी ब्रह्म सम्बन्धी ज्ञान गति ही ज्ञान है और आचरित तप, इन तीनों में से प्रत्येक ऐसे ही नष्ट न होने वाली वस्तु है, जैसे खेत में डाला बीज नष्ट नहीं होता कभी न कभी और कुछ न कुछ तो उगता ही है ।

लौकिक सुख या उसके आधार—

अर्थागमो नित्यमरोगिता च प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन्!॥८२॥
आरोग्यमानृशंस्यमविप्रवासः सद्भिर्मनुष्यैः सह सम्प्रयोगः।
स्वप्रत्यया वृत्तिरभीरुवासः षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन्!॥८९॥

(महा० उद्योग० प्रजा० अ० ३३)

धन प्राप्ति, सदा रोगरहितता, प्रिय पत्नी, प्रिय बोलने वाली, आज्ञाकारी पुत्र, काम आने वाली विद्या, हे राजन्! ये छः मनुष्य लोक के सुख हैं। तथा—

अरोगता, प्रेम भाव, स्वदेश वास, सत्पुरुषों के साथ मेल-मिलाप, स्वाधार आजीविका, अभय निवास हे राजन्! ये छः मनुष्य लोक के सुख हैं।

सुख और दुःख के कारण—

नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम्।

(महा० शान्ति प० मोक्ष अ० ७५। ३५)

राग के समान दुःख नहीं, त्याग के समान सुख नहीं।

परिग्रह (विस्तार) आवश्यकताओं की वृद्धि दुःख दायक—

बिस्तराः क्लेशसंयुक्ताः संक्षेपास्तु सुखावहाः।
परार्थं विस्तराः सर्वे त्यागमात्महितं विदुः॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष अ० २९८। २०)

वस्तुओं का संग्रह परिग्रह या आवश्यकताएं बढाए रखना दुःख से युक्त है संक्षेप (मर्यादित) संग्रह या आवश्यकताएं रखना सुख दायक है, संग्रह परिग्रह तो दूसरों के ही काम आते हैं त्याग अपने हित को साधता है ऐसा विद्वान् जानते हैं।

राग एवं नष्ट के शोच में दुःख—

मृतं वा यदि नष्टं योऽतीतमनुशोचति ।
दुःखेन लभते दुःखं द्वावनर्थौ प्रपद्यते ॥ ९ ॥
प्राक् सम्प्रयोगाद् भूतानां नास्ति दुःखं परायणम् ।
विप्रयोगात्तु सर्वस्य न शोचेत् प्रकृतिस्थितः ॥२७॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष अ० ३३०)

मरे जन आदि को या नष्ट हुई वस्तु को शोचता है वह दुःख से दुःख को प्राप्त करता है और इस लोक परलोक सम्बन्धी दोनों अनर्थों को प्राप्त होता है या नष्ट के दुःख एवं पुनः शोच के दुःख को प्राप्त होता है । किसी बन्धु या वस्तु के सम्बन्ध या सम्पर्क से पूर्व मर जाने या नष्ट हो जाने से दुःख नहीं होता किन्तु उसके वियोग से सब को दुःख होता है अतः स्वभाव से शान्त व्यक्ति इसमें शोच नहीं करता है ।

दुःख को पार करने वाले जन—

नित्यं शमपरा ये च तथा ये चानसूयकाः ।
नित्यस्वाध्यायिनो ये च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥

(महा० अनुशासन प० अ० ३१ । २९)

जो जन सदा शम, मन की शान्ति रखने वाले-शान्त तथा निन्दा न करने वाले हैं, नित्य स्वाध्याय करने वाले हैं, वे दुःखों के पार हो जाते हैं ।

मानस दुःख एवं शरीर दुःख से बचने का उपाय—

प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्याच्छारीरमौषधैः ।

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० २०५ । ३)

बुद्धि से मानसिक दुःख को, रोग को और शरीर के रोग को औषधों से नष्ट करे ।

(दुःखों से बचने, पार होने के साधन देखो पृष्ठ पुण्य-जन प्रकरण) ।

अभ्युदय-उन्नति—

अनालस्यता, कार्यतत्परता अर्थ साधने वाली हैं—

नालसाः प्राप्नुवन्त्यर्थान्न क्लीबा नाभिमानिनः।
न च लोकापवाद्भीता न वै शश्वत्प्रतीक्षिणः॥

(महा० शांति प० आपद्धर्म अ० १४० । २३)

आलसी, नपुंसक, अभिमानी, लोक वाद के भय से डरने वाले, सदा प्रतीक्षा करने वाले (दीर्घसूत्री) जन अर्थ (धन) आदि, को प्राप्त नहीं कर सकते।

कल का कार्य आज करना-कार्य में तत्पर रहना—

श्वःकार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम्।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतं वाऽस्य न वा कृतम्॥
अद्यैव कुरु तच्छ्रेयो मा त्वां कालोऽत्यगान्महान्।
को हि जानाति कस्याद्य मृत्युकालो भविष्यति॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० २७७ । १३, १४)

कल का कार्य आज करे, सायं का कार्य प्रातः करे क्यों कि मृत्यु प्रतीक्षा नहीं करती है किया कि नहीं किया। जो उत्तम कर्म हैं उसे आज ही कर, महान् काल तुझे अतिक्रमण न कर पावे। क्यों कि कौन जानता है आज किस की मृत्यु हो जायगी॥

सहायवान् और स्थिर मन वाला सफलता प्राप्त करता है—

व्यवसायं समाश्रित्य सहायवान् योऽधिगच्छति।
न तस्य कश्चिदारम्भः कदाचिदवसीदति॥
अद्वैधमनसं युक्तशूरं धीरं विपश्चितम्।
न श्रीः सन्त्यजते नित्यमादित्यमिव रश्मयः॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० २९८ । ४२, ४३)

जो मनुष्य सहायवान् होकर निश्चय के अनुसार कार्य पर आरूढ हो जाता है उसका कोई आरम्भ किया कार्य कभी नष्ट नहीं

होता है। द्विधामन न रखने वाला निश्चित मति जन शर जिसने मुक्त कर लिया है ऐसे धीर विद्वान् को श्री,लक्ष्मी (धन सम्पत्ति) की समृद्धि ऋद्धि-सिद्धि ऐसे नहीं त्यागती है जैसे सूर्य को सूर्य-किरणें नहीं त्यागती हैं।

त्रिवर्ग संग्रह आदि—

अनुग्रहं च मित्राणाममित्राणां च निग्रहम्।
संग्रहं च त्रिवर्गस्य श्रेय आहुर्मनीषिणः ॥ १५ ॥
निवृत्तिः कर्मणः पापात् सततं पुण्यशीलता।
सद्भिश्च समुदाचारः श्रेय एतदसंशयम् ॥ १६ ॥
मार्दवं सर्वभूतेषु व्यवहारेषु चार्जवम्।
वाक् चैव मधुरा प्रोक्ता श्रेय एतदसंशयम् ॥ १७ ॥
नक्तंचर्या दिवास्वप्नमालस्यं मैथुनं मदम्।
अतियोगमयोगं च श्रेयोऽर्थी परित्यजेत् ॥ २४ ॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० २८७)

मित्रों को प्रेम, दया शत्रुओं का स्ववश होना। त्रिवर्ग-धर्म अर्थ काम का संग्रह इसे मनीषी जन श्रेय कहते हैं। पाप कर्म से निवृत्ति निरन्तर पुण्यशील बने रहना सत्पुरुषों का समागम, व्यवहार, निःसंशय यह श्रेयः है। सब प्राणियों के निमित्त मृदु भाव रखना, व्यवहारों में सरलता और वाणी मधुर बोलना निःसन्देह श्रेय है। रात्रि में काम काज करना या भटकना और दिन में सोना आलस्य, मैथुन, मादक वस्तु सेवन वस्तुओं का अति सेवन या न सेवन करना श्रेय ये सब काम चाहने वाला छोड़ दे।

उद्धार एवं सुधार—

मोहाद् धर्मं यः कृत्वा पुनः समनुतप्यते।
मनः समाधिसंयुक्तो न स सेवेत दुष्कृतम्।

यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हते।
तथा यथा शरीरं तु तेनाधर्मेण मुच्यते॥

(महा० अनुशासन प० अ० ११२)

जो मनुष्य अज्ञान से अधर्म करके पुनः पश्चात्ताप करता है मन को एकाग्र करे एवं स्वाधीन किए हुए दुष्कर्म का सेवन न करे। जैसे जैसे उसका मन पाप कर्म की निन्दा करता है वैसे वैसे उस अधर्म से उसका शरीर छूटता जाता है।

जैसी करनी वैसी भरनी, कारण के अनुसार कार्य—

सुक्षेत्राच्च सुबीजाच्च पुण्यो भवति सम्भवः।
अतोऽन्यतरतो हीनादवरो नाम जायते॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० २९६।४)

अच्छे खेत से और अच्छे बीज से उत्तम उत्पत्ति होती है इससे अतिरिक्त हीन खेत और बीज से निकृष्ट, अधम उत्पत्ति होती है।



चतुर्दश पार्श्व

ऐतिहासिक विशिष्ट वृत्त-संस्थान

राजा जनक—

राजा जनक पञ्चशिख संन्यासी का शिष्य था—

पराशरसगोत्रस्य वृद्धस्य सुमहात्मनः ।
भिक्षोः पञ्चशिखस्याहं शिष्यः परमसम्मतः ॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३२० । २४)

सुलभा संन्यासिनी से जनक अपना परिचय दे रहे हैं कि पराशर गोत्र वाले वृद्ध उत्तम संन्यासी पञ्चशिख का मैं माना हुआ शिष्य हूँ।

राजा जनक का विदेहत्व—निर्ममत्व समभाव—

यश्च मे दक्षिणं बाहुं चन्दनेन समुक्षयेत् ।
सव्यं वास्यापि यस्तक्षेत् समावेताबुभौ मम ॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३२० । ३६)

सुलभा संन्यासिनी से जनक कहते हैं कि जो मेरे दक्षिण बाहु को चन्दन जल से सिञ्चित करे और जो इसके वाम बाहु को काटे ये दोनों मेरे लये समान हैं।

राजा जनक मोक्ष शास्त्र, वेद तथा राजनीति में निष्णात एवं संयमी थे—

स वेदे मोक्षशास्त्रे च स्वे च शास्त्रे कृतश्रमः ।
इन्द्रियाणि समाधाय शशास वसुधामिमाम् ॥
तस्य वेदविदः प्राज्ञाः श्रुत्वा तां साधुवृत्तताम् ।
लोकेषु स्पृहयन्त्यन्ये पुरुषाः पुरुषेश्वर ॥

महा० शान्ति प० मोक्ष० अ० ३२० । ६, ७)

राजा जनक वेद मोक्ष शास्त्र और राजनीति में अभ्यस्त थे—उन्होंने इन्द्रियों को संयमित करके इस पृथिवी का शासन किया। उसकी साधुवृत्तता को सुनकर अन्य वेदवेत्ता विद्वान जन स्पृहा (इच्छा) करते थे।

याज्ञवल्क्य ऋषि युधिष्ठिर के अश्वमेध में—

अहं पैलोऽथ कौन्तेय! यज्ञवल्क्यस्तथैव च।
विधानं च यथाकालं तत्कर्तारो न संशयः॥ ३॥
याज्ञवल्क्य शिष्यश्च कुशलो यज्ञकर्मणि।
प्रायात् पार्थेन सहितः शान्त्यर्थं वेदपारगः॥ १८॥

(महा० आश्वमेधिक प० अ० ७३)

व्यास जी कहते हैं कि मैं, पैल ऋषि और याज्ञवल्क्य ऋषि उस विधान (अश्वमेध यज्ञ) के विधि क्रम को निःसंशय करेंगे। याज्ञवल्क्य ऋषि का शिष्य यज्ञ कर्म में कुशल है वह वेदवेत्ता आ गया है।

व्यास ऋषि—

व्यासमुनि के पांच शिष्य थे—

सुमन्तुर्जैमिनिश्चैव पैलश्च सुदृढव्रतः।
अहं चतुर्थः शिष्यो वै पञ्चमश्च शुकः स्मृतः॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष अ० ३४०। १९-२०)

वैशम्पायन कहते हैं कि सुमन्तु, जैमिनि, पैल, मैं (वैशम्पायन), और पाँचवां शुक (व्यास जी का पुत्र) व्यास जी के शिष्य हैं।

भीष्म पितामह—

भीष्म पितामह ने शरशय्या पर पड़े हुए लटके हुए शिर के लिये अर्जुन से उपधान मांगा जो कि तीन बाण अर्जुन ने शिर में

लगा कर शिर ऊंचा कर दिया और जल भी मांगा था तो पर्जन्य अस्त्र से पृथिवी का जल निकाल कर पिलाया। यह लम्बा वृत्तान्त (महाभारत भीष्मवध प० अ० १२१। ३४) में दिया है।

भीष्मपितामह का शरशय्या पर उत्तरायण में प्राणान्त दिवस-

दिष्ट्या प्राप्तोऽसि कौन्तेय! सहामत्यो युधिष्ठिर!।
परिवृत्तो हि भगवन् सहस्रांशुर्दिवाकरः॥
अष्टपञ्चाशतं रात्र्यः शयानस्याद्य मे गताः।
शरेषु निशिताग्रेषु यथा वर्षशतं तथा॥
माघोऽयं समनुप्राप्तो मासः सौम्यो युधिष्ठिर!।
त्रिभागशेषः पक्षोऽयं शुक्लो भवितुमर्हति॥

(महा० अनुशासनप० अ० १६७। २६—२८)

भीष्मपितामह युधिष्ठिर से कहते हैं कि "हे कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर! तू अपने मन्त्रियों सहित अकस्मात् पहुंचा है, सहस्ररश्मि वाला सूर्य लौट गया वह दक्षिणायन से उत्तरायण को हो गया। आज मुझे तीक्ष्ण बाणों पर सोते हुए अट्ठावन रात्रियां सौ वर्ष के समान चली गईं। यह सौम्य माघ मास आ गया है यह तीन भाग शेष पक्ष शुक्ल पक्ष होने को है।

श्री० कृष्ण—

कृष्ण का न्याय्य पक्ष या सद् वर्तन—

अकस्माद् द्वेष्टि वै राजन् जन्मप्रभृति पाण्डवान्।
प्रियानुवर्तिनो भ्रातॄन् सर्वैः समुदितान् गुणैः॥
अकस्माच्चैव पार्थानां द्वेषणं नोपपद्यते।
धर्मे स्थिताः पाण्डवेयाः कस्तान् किं वक्तुमर्हति॥
यस्तान् द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्ताननु स मामनु।
ऐकात्म्यं मां गतं विद्धि पाण्डवैर्धर्मचारिभिः॥

(महा० उद्योग प० अ० ९१। २६—२८)

कृष्ण जी दुर्योधन की सभा में उसे कहते हैं कि हे दुर्योधन! आप हितकारी गुण सम्पन्न पाण्डव भाईयों के प्रति अकारण द्वेष करते हो। किसी से अकारण द्वेष करना उचित नहीं है धर्म में वर्तमान पाण्डव हैं, कौन उन्हें क्या कह सकता है। जो उन से द्वेष करता है वह मेरे प्रति द्वेष करता है जो उनके अनुकूल है वह मेरे अनुकूल है धर्माचरण करने वाले पाण्डवों के साथ मुझे एकात्म्य (एक रूप में हुआ) जान।

ते पुत्रास्तव कौरव्य दुर्योधनपुरोगमाः।
धर्मार्थौ पृष्ठतः कृत्वा प्रचरन्ति नृशंसवत्॥
अशिष्टा गतमर्यादा लोभेन हृतचेतसः।
स्वेषु बन्धुषु मुख्येषु तद्वेत्थ पुरुषर्षभ!॥

(महा० भगवद्यानप० अ० ९५। ९, १०)

हे धृतराष्ट्र श्रेष्ठ जन! तेरे वे दुर्योधन आदि पुत्र, धर्म और अर्थ की उपेक्षा करके घातकों की भांति व्यवहार करते हैं। वे अशिष्ट, मर्यादाहीन तथा लोभवश नष्ट बुद्धि वाले जन अपने मुख्य बन्धुओं पाण्डवों के सम्बन्ध में व्यवहार कर रहे हैं, ऐसा तू जान।

कृष्ण ने अपने राज्य में सुरापान का निषेध किया—

अघोषयंश्च नगरे वचनादाहुकस्य ते।
जनार्दनस्य रामस्य बभ्रोश्चैव महात्मनः॥
अद्यप्रभृति सर्वेषु वृष्ण्यन्धककुलेष्विह।
सुरासवो न कर्तव्यः सर्वैर्नगरवासिभिः॥
यश्च नो विदितं कुर्यात्पेयं कश्चिन्नरः क्वचित्।
जीवन् स शूलमारोहेत् स्वयं कृत्वा सबान्धवः॥

(महा० मौसल प० अ० १। २८, ३०)

घोषणा करने वालों ने आहुक कृष्ण बलराम बभ्रु के आदेश

से नगर में घोषणा की सूचना प्रसारित की कि आज से लेकर सब वृष्ण्यन्धक कुलों में सुरा-मद्य (पक्की, कच्ची शराब) सब नगर वासियों को न करनी होगी और जो काई मनुष्य कहीं भी इनका पान करे ऐसा हमने जान लिया तो वह वह मनुष्य स्वयं ऐसा करके बान्धवों सहित जीता हुआ शूली पर चढ़ेगा।

कृष्ण और कर्ण का संवाद—

कृष्ण जी का कथन—

कानीनश्च सहोढश्च कन्यायां यश्च जायते।
वोढारं पितरं तस्य प्राहुः शास्त्रविदो जनाः॥
सोऽसि कर्ण तथा जातः पाण्डोः पुत्रोऽसि धर्मतः।
निग्रहाद्धर्मशास्त्राणामेहि राजा भविष्यसि॥
मया सार्धमितो यातमद्य त्वां तात पाण्डवाः।
अभिजानन्तु कौन्तेयं पूर्वजातं युधिष्ठिरात्॥
पादौ तव गृहीष्यन्ति भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः।

(महा० उद्योगप० भगवद्यानप०अ० १४० ।८—१३)

कृष्ण जी कर्ण से कहते हैं—हे कर्ण ! कन्या-अविवाहित से जो कानीन बालक उत्पन्न हो तथा विवाह समय गर्भ में हो वह उस बालक का पिता विवाह करने वाला होता है ऐसा शास्त्र वेत्ता जन कहते हैं। वह तू कर्ण इस प्रकार उत्पन्न हुआ है, तू धर्म से पाण्डु पुत्र है। अतः आ तू धर्म शास्त्रों के नियन्त्रण से नियम से राजा होगा। यहां से मेरे साथ प्राप्त हुए तुझ को पाण्डव आज युधिष्ठिर से पूर्व उत्पन्न हुआ कुन्ती पुत्र जान लेंगे, पांचों भाई तेरे चरण छूएंगे।

कर्ण का कथन—

कुन्त्या त्वहमयोकीर्णो यथा न कुशलं तथा।
सूतो हि मामधिरथो दृष्ट्वाभ्यानयद् गृहान्॥

राधायाश्चैव मां प्रादात् सौहार्दान्मधुसूदन ! ।
न पृथिव्या सकलया न सुवर्णस्य राशिभिः ॥ १२ ॥
हर्षाद् भयाद् वा गोविन्द मिथ्याकर्तुं तदुत्सहे ।
धृतराष्ट्रकुले कृष्ण दुर्योधनसमाश्रयात् ।
मया त्रयोदशसमा भुक्तं राज्यमकण्टकम् ॥ १५ ॥
बधाद्बन्धाद् भयाद्वापि लोभाद्वापि जनार्दन ।
अनृतं नोत्सहे कर्तुं धार्तराष्ट्रस्य धीमतः ॥ १७ ॥
मन्त्रस्य नियमं कुर्यास्त्वमत्र मधुसूदन ।
एतदत्र हितं मन्ये सर्वं यादवनन्दन ॥ २० ॥
यदि जानाति मां राजा धर्मात्मा संयतेन्द्रियः ।
कुन्त्याः प्रथमजं पुत्रं न स राज्यं ग्रहीष्यति ॥

(महा० उद्योगप० भगवद्यान० अ० १४१)

हे कृष्ण ! कुन्ती ने मुझे अलग कर दिया, फेंक दिया जिससे मैं बच भी न सकूं, रथस्थ सूत मुझे देख कर अपने घर लाया। दया भाव से राधा को मुझे दे दिया एवं मैं धृतराष्ट्र के यहां पला। सकल पृथिवी या सुवर्णराशियों के बदले में भी हर्ष से, भय से मैं इस उपकार को मिथ्या नहीं कर सकता। हे कृष्ण ! धृतराष्ट्र के कुल में दुर्योधन के साथ मैंने तेरह वर्ष अकंटक राज्य को भोगा है। वध से, बन्धन से, भय से, लोभ से भी बुद्धिमान् दुर्योधन के पक्ष का उल्टा नहीं कर सकता। हे कृष्ण ! तू इस गुप्त रहस्य को नियन्त्रित रख,प्रकट न करना यह यहां सब हितकर समझता हूं। यदि धर्मात्मा, जितेन्द्रिय युधिष्ठिर राजा मुझे कुन्ती का प्रथमज,ज्येष्ठ पुत्र जान लेता है तो वह राज्य ग्रहण न करेगा।

कृष्ण की पत्नी सत्यभामा और रुक्मिणी थीं न कि राधा—

तथैव सत्यभामाऽपि द्रौपदीं परिषस्वजे।
पाण्डवानां प्रियां भार्यां कृष्णास्य महिषी प्रिया॥
(महा० वनप० मार्कण्डेय सभा० अ० १८३। ११)

इसी प्रकार कृष्ण की प्रिया महिषी-पत्नी सत्य भामा ने भी पाण्डवों की प्रिया भार्या द्रौपदी को आलिङ्गन किया।

अथाब्रवीत् सत्यभामा कृष्णास्य महिषी प्रिया।
(महा० वनप० द्रोपदीसत्यभामा० अ० २३३। ३)

कृष्ण की प्रिय पत्नी सत्यभामा ने कहा।

वैदेह्यां च यथा रामो रुक्मिण्यां च जनार्दनः।
(महा० उद्योगप० भगवद्यान० अ० ११८। १७)

जैसे सीता के निमित्त राम एवं रुक्मिणी के निमित्त कृष्ण है।

कृष्ण के अवतार वाद और भक्तिवाद का कारण—

महाभारतान्तर्गत भगवद्गीता प्रकरण में कृष्ण जी की ओर से कुछ ऐसे वचन दिए गए जिन से कृष्ण जी ईश्वर हैं ईश्वर का अवतार हैं तथा उनकी भक्ति करना सर्वोत्तम धर्म है। इन दोनों बातों का कारण क्या है हम यहां कहेंगे प्रथम भक्ति मार्ग का स्पष्टीकरण करते हैं—

भक्तिमार्ग—

भक्ति मार्ग—भक्ति का मार्ग, 'भक्ति' शब्द सेवा-अर्थ वाले 'भज' धातु से बना है "भज सेवायाम्" (भ्वादि०) अतः भक्ति का अर्थ हुआ सेवा, और भक्ति मार्ग हुआ सेवा का मार्ग। सेवा कहते हैं किसी की आवश्यक वस्तुएं पण्यवीथी (बाजार) से ला देना, उसके यहां झाड़ू लगा देना, उसके पात्र मार्जन करना, भोजन बना देना, वस्त्र धो देना, उसे स्नान कराना, उसके अङ्ग दबाना, वस्त्र पहिनाना, रोगी हो जाने पर परिचर्या करना, विशेष रोगी हो जाने पर मल मूत्र तक उठाना आदि भांति भांति के उपायों से

भजनीय (स्वामी) को प्रसन्न करना रिझाना भक्तिमार्ग है। भक्ति मार्ग का प्रचलन अध्यात्म क्षेत्र में अवतारवाद को मान कर हुआ और वह लोक में बढ़ा। मूर्तिपूजा-लीला (राम लीला, रास लीला) सखी भाव आदि के रूप में आया। जिन को ईश्वर का अवतार माना उन के जीवन-काल में उनकी प्रत्येक प्रकार से सेवा करना तथा सर्वतोभाव से उनकी आज्ञा मानना पुनः देहान्त पर उनकी मूर्ति बना, मूर्ति को नहलाना, वस्त्र पहिनाना, चन्दन तिलक लगाना, फूल माला पहिनाना, शृङ्गार करना, पालने में झुलाना, चामरी करना, रिझाना, भोग लगाना आदि भक्ति चल पड़ी तथा लीला जैसा कि भक्तिवाद के साम्प्रदायिक ग्रन्थों में कहा है "प्रेममयी भक्तिः कृष्णगोपिकानामिव" और सखि भाव आदि में बढ़ी। कृष्ण की गोपियों की भक्ति प्रेममयी भक्ति करना।

भक्ति मार्ग का प्रारम्भ भगवद्गीता से हुआ क्यों कि भक्ति-मार्ग अवतारवाद पर निर्भर है और गीता में अवतारवाद दर्शाया गया है, अब भक्ति मार्ग और अवतारवाद के कुछ वचन गीता में आए हैं यहां प्रदर्शित करते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥

(महा० भगवद्गीता अ० ४। ७)

जब जब धर्म का लोप होता है तब तब मैं शरीर धारण करता हूं अपने को जन्म देता हूं।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयात्मनः॥

(भगवद्गीता० ९। २६)

कृष्ण जी कहते हैं कि "पत्ता, फूल, फल, जल को जो मेरे

लिये भक्ति से देता है उस भक्ति से भेंट किए हुए को मैं यत्न से खाता हूं।"

फल का खाना तो किसी के लिये सङ्गत है परन्तु पत्ते और फूल का खाना सङ्गत नहीं यह तो भक्ति मार्ग (में चढ़ावे) की वस्तु हुई। ईश्वर को तो इनमें से किसी की भी आवश्यकता नहीं किन्तु कृष्ण आदि को ईश्वर का अवतार मान कर उन्हें जल, फल, फूल, पत्ते, की भेंट करना हुआ (पुनः उनके देहान्त के पश्चात् उनकी मूर्ति बना उस पर उक्त वस्तुएं चढ़ाने आदि का भक्तिमार्ग चल पड़ा)।

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(भगवद्गीता अ० ९।३०)

कृष्ण जी कहते हैं—"चाहे बहुत दुराचारी भी हो परन्तु यदि वह अन्य को छोड़कर मुझे अपना कर मेरी भक्ति करता है तो उसे साधु सज्जन ही मानना चाहिए।"

यहां भक्तिवाद की अतिस्तुति एवं अयुक्त स्तुति की है इस में दुराचार भी अगण्य ठहराया अपितु उसको प्रोत्साहन दिया गया है। भगवद्गीता में यह कृष्ण जी की उक्ति निम्न साम्प्रदायिक नवीन उपनिषद्-कथन के समान है—

दुराचाररतो वाऽपि मन्नामभजनात् कपे।
सालोक्यमुक्तिमाप्नोति न तु लोकान्तरादिकम्॥
काश्यां च ब्रह्मनालेऽस्मिन् मृतो मत्तारमाप्नुयात्॥

(मुक्तिकोपनिषद् १)

इस साम्प्रदायिक कथन में दर्शाया गया है कि हनुमान् से राम कहते हैं कि—"हे हनुमान् दुराचार में रत हुआ मनुष्य भी मेरा

नाम भजने से सालोक्य मुक्ति को प्राप्त होता है अन्य लोक लोकान्तर में नहीं जन्मता और काशी में ब्रह्म नाल स्थान में मरा हुआ मेरी शरण पाता है।"

यहां भी दुराचार का पोषण किया गया है। कहां ये दुराचार के परिपोषार्थ कृष्ण और राम के मुख से कहलाए गये साम्प्रदायिक विचार और कहां अध्यात्मविद्या के कठोपनिषद् ग्रन्थ के दुराचार विरोधी सदाचार प्रचार के विचार—

नाविरतो दुश्चरितात्.....प्रज्ञानेनैमाप्नुयात्।

(कठोपनिषद् १।२।२३)

दुराचार से जो अलग नहीं हुआ ऐसा मनुष्य इस परमात्मा को पा नहीं सकता।

ऊपर राम के मुख से जो दुराचार का पोषण और सदाचार की अवहेलना दिखलाई गई है वाल्मीकि रामायण में ऐसा कहीं भी हनुमान् को राम ने नहीं कहा है। अतः जैसे यह कथन पश्चात् साम्प्रदायिक लोगों का घड़ा हुआ है यह सिद्ध है इसी प्रकार भगवद्गीता में भी उक्त कृष्ण जी द्वारा आचार की अवहेलना साम्प्रदायिक कथन के पश्चात् का जानना चाहिए।

उक्त भक्तिवाद का प्रदर्शन करते हुए और भी साम्प्रदायिक पुट देखिये निम्न वचन में—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(भगवद्गीता० अ० ४।३१)

कृष्ण जी कहते हैं कि, "हे अर्जुन! मुझे आश्रित करके जो पाप योनियां—स्त्रियां, वैश्य और शूद्र जन हैं वे भी उत्तम गति को प्राप्त होते हैं।"

यहां भक्तिवाद की अति प्रशंसा करते हुए स्त्रियों, वैश्यों, शूद्रों को पापयोनियां कह डालना घोर साम्प्रदायिकता है। साम्प्रदायिक विचार-धारा में "स्त्रीशूद्रौ नाधीयातामिति श्रुतेः" 'स्त्री और शूद्र न पढ़ें' यह तो था ही, परन्तु गीता के उक्त वचन में स्त्री शूद्र को ही नहीं वैश्य को भी पापयोनि कह डाला। पुनः यह साम्प्रदायिक भक्तिवाद जिस अवतारवाद पर आश्रित है उसका भी प्रदर्शन गीता के वचनों से प्रदर्शित करते हैं—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥
तस्मादुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैव ते निहिताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥

(भगवद्गीता० अ० ११। ३२, ३३)

कृष्ण जी कहते हैं कि "मैं लोकों का क्षय करने वाला काल हूं, लोकों का संहार करने को मैं यहां प्रवृत्त हुआ हूं, ये जो प्रतिपक्ष सेनाओं में योद्धा उपस्थित हैं अर्जुन ये बिना तेरे अन्य कोई न रहेंगे इसलिये तू उठ, यश प्राप्त कर, शत्रुओं को जीत कर समृद्ध राज्य को भोग। मैंने ये सब प्रथम ही मार दिए हैं तू निमित्त मात्र हो।"

उक्त वचन में कृष्ण जी अर्जुन को युद्धार्थ तैयार हो जाने के लिये अपनी बात मनवाने के लिये अपने को ईश्वर ईश्वर का अवतार प्रदर्शित कर रहे हैं।

तथा—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्योऽहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥

(भगवद्गीता० अ० ११ । ५३, ५४)

कृष्ण जी अर्जुन को कहते हैं कि "हे अर्जुन! मैं वेदों के पढ़ने, जानने से, तप से, दान से और यज्ञ से देखा या जाना जाता नहीं हूं, जैसा कि मुझे तूने देखा है किन्तु एक मेरी अनन्य भक्ति से ही इस प्रकार यथार्थ जानने, देखने और प्रवेश करने योग्य है।"

यहां कृष्ण जी ने अपने को ईश्वर या ईश्वर का अवतार प्रदर्शित करते हुए अपने दर्शन ज्ञान एवं प्राप्ति में वेद, तप, दान, यज्ञ को भक्ति से निकृष्ट बतला दिया, भक्ति से ही अपने को प्राप्य कहा है।

तथा—

शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः।

(भगवद्गीता० अ० ११ । १७)

"पुण्य-अपुण्य या धर्म-अधर्म को छोड़ कर जो भक्ति करने वाला है वह मुझे प्रिय है।"

अधर्म को तो छोड़ना चाहिए पर धर्म को भी छोड़कर भक्ति करना भक्ति की अति प्रशंसा और अयुक्त प्रशंसा है।

और भी—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः।

(भगवद्गीता० अ० १८ । ६५, ६६, ६८)

कृष्ण जी अर्जुन को कहते हैं कि "मेरे में मन रख, मेरा भक्त हो, मेरा यज्ञ कर, मेरी ओर झुक, मुझे ही प्राप्त होगा तेरे लिये

सत्य प्रतिज्ञा करता हूं, तू मेरा प्रिय है। सब धर्मों को छोड़कर एक मेरी ही शरण ले। मैं तुझे सब पापों से छुड़ा दूंगा, शोक न कर, मेरे में ऊंची भक्ति करके निःसंशय मुझे ही प्राप्त होगा।"

इस वचन में कृष्ण जी ने अपने को (ईश्वर का अवतार) प्रकट कर अर्जुन को सब धर्मों से छुड़ा कर अपनी ओर झुकाने अपनी बात को स्वीकार करवाने को बाधित किया है।

उपर्युक्त कृष्ण जी के समस्त वचनों में कृष्ण जी का अपने को ईश्वर या ईश्वर का अवतार कहने और अपनी भक्ति करवाने अपनी बात मनवाने का उद्देश्य अर्जुन को युद्ध में लड़ने को तैयार करने, खड़े हो जाने का था जिस में वह सफल हुए। अर्जुन ने युद्ध में लड़ना स्वीकार कर लिया। अर्जुन अन्त में कहते हैं—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

(भगवद्गीता० १८।७३)

"हे कृष्ण! तेरी कृपा से मेरा मोह(अज्ञान) नष्ट हो गया, स्मृति (प्राप्त की) समझ आ गई सन्देहरहित हो गया हूं, तेरे वचन का पालन करूंगा अर्थात् लड़ूंगा।"

यही तो कृष्ण जी चाहते थे कि अर्जुन उनकी बात मान ले, युद्ध में लड़ने को तैयार हो जावे इसी के लिये कृष्ण जी ने यह सब कुछ अपने को ईश्वर बता अपनी भक्ति कराने का प्रपञ्च रचा। अर्जुन हठी था मान नहीं रहा था अतएव कृष्ण जी को ऐसा करना पड़ा।

ईश्वर का अवतार लेना (कथन करना) वेद विरुद्ध है, अतः अवैदिक है। क्यों कि वेद में कहा है "अज एकपात्" (यजु० ३४। ५३) "स पर्यगाच्छुक्रमकायम्" (यजु० ४०।५) ईश्वर जन्म नहीं लेता, वह शरीर धारण नहीं करता।

जब कि अवतारवाद अवैदिक है तब अवतारवाद पर निर्भर उपर्युक्त भक्तिवाद या भक्तिमार्ग भी अवैदिक हुआ। जैसा कि हम प्रथम कह आए हैं जब से लोगों ने ईश्वर को अवतार मानना आरम्भ किया तब से भक्तिमार्ग चल पड़ा, सो यह भगवद्गीता के वचनों से स्पष्ट हो गया। उक्त भक्तिमार्ग साम्प्रदायिक है और अवतारवाद भी साम्प्रदायिक तथा अवैदिक है यह स्पष्ट हो गया।

(प्रश्न) उक्त अवतारवाद और भक्ति मार्ग अवैदिक हैं साम्प्रदायिक हैं यह तो ठीक है परन्तु भगवद्गीता में कृष्ण जी के द्वारा इनका प्रतिपादन क्यों किया गया ?

(उत्तर) इसके सम्बन्ध में दो बातें हो सकती हैं जिनमें—

१—एक तो यह कि भगवद्गीता महाभारत का अङ्ग है और महाभारत में बाद में बहुत कुछ बढ़ाया गया, सो भगवद्गीता के अन्दर भी प्रक्षेप किया जाना सम्भव है। कृष्ण जी ने अर्जुन को युद्ध में लड़ने के लिये तैयार हो जाने को किसी अन्य ढंग से, कुछ वचन कहे हों पश्चात् साम्प्रदायिक लोगों ने साम्प्रदायिक भावनाओं के विचार से अवतारवाद और भक्तिमार्ग में डाल दिए हों क्यों कि अन्य नवीन साम्प्रदायिक ग्रन्थों में उक्त अवतारवाद और भक्तिमार्ग को दिया हुआ है।

२—दूसरी बात यह हो सकती है कि यदि कृष्ण जी के ही उक्त वचन ही अपने को ईश्वर का अवतार बतला अपनी भक्ति कराने रूप भक्तिमार्ग का आदेश अर्जुन को युद्ध में लड़ने के लिये तैयार हो जाने को दिया हो तो ये दोनों बातें अवतार और भक्ति मार्ग उसी समय के लिये राजनैतिक क्षेत्र सम्बन्धी हैं, धार्मिक क्षेत्र की नहीं, जैसे वर्तमान समय में महात्मा गान्धी के अहिंसा और सत्य के वाद से ब्रिटिश सत्ता से संघर्ष लेने के लिये भारतीय जनता द्वारा आचरण करने को उसी समय के लिये राजनैतिक क्षेत्र

सम्बन्धी थे, सदा के लिये नहीं। अतः कृष्ण जी के द्वारा अवतारवाद और भक्तिमार्ग का प्रतिपादन अर्जुन को युद्ध में लड़ने के लिये तैयार करने को राजनैतिक वस्तु है। कृष्ण जी ने अन्य भी ऐसी चालें चली हैं, द्रोणाचार्य के वधार्थ धर्म का उल्लंघन करने का आदेश दिया ही था—

आस्थीयतां जये योगो धर्ममुत्सृज्य पाण्डवाः।

(महा० द्रोणप० द्रोणवध० अ० १९० । १२)

द्रोणाचार्य का पुत्र अश्वत्थामा मर गया ऐसा कृष्ण जी ने झूठ बुलवाया, क्योंकि अपने पुत्र अश्वत्थामा को मरा हुआ समझ द्रोणाचार्य हाथ से शस्त्र डाल देगा। पुनः उसे मार देना। यह सब कुछ अधर्माचरण का आदेश कृष्ण जी द्वारा दिया जाना राजनैतिक चाल ही थी।

तथा—

नैष शक्यः कदाचित्तु हन्तुं धर्मेण पार्थिव!।
ते भीष्मप्रमुखाः सर्वे महेष्वासा महारथाः॥
मयाऽनेकैरुपायैस्तु मायायोगेन चासकृत्।
हतास्ते सर्व एवाजौ भवतां हितमिच्छता॥
यदि नैवंविधं जातु कुर्यां जिह्ममहं रणे।
कुतो वो विजयो भूयः कुतो राज्यं कुतो धनम्॥
तथैवायं गदापाणिर्धार्तराष्ट्रोऽतिरथो भुवि।
न शक्यो धर्मतो हन्तुं लोकपालैरपि स्वयम्॥

(महा० शल्यप० गदाप० अ० ६१ । ६२—६४, ६६)

कृष्ण जी पाण्डवों से कहते हैं कि "यह भीष्म पितामह" धर्म से युद्ध करते हुए नहीं मारा जा सकता अथवा वे सब भीष्म पितामह आदि शस्त्रधारी महयोद्धा धर्म से नहीं मारे जा सकते। मैंने अनेक उपायों से मायायोग से आप लोगों के हित को चाहते हुए।

(छल प्रयोग) से पुनः पुनः इन्हें युद्ध में आहत किया यदि मैं इस प्रकार युद्ध में कदाचित् छल न करूं तो फिर तुम्हारा विजय कैसे हो, कैसे राज्य, कैसे धन। इसी प्रकार यह गदाधारी दुर्योधन पृथिवी पर महायोद्धा है जो कि स्वयं लोकपालों से भी धर्म से मारा नहीं जा सकता।"

कृष्ण जी के उपर्युक्त कथन से भी स्पष्ट है कि कृष्ण ने पाण्डवों को अधर्म से युद्ध करने को प्रेरित किया और स्वयं भी छल से युद्ध में काम लिया है यह दर्शाया है, अतः कृष्ण जी के द्वारा अर्जुन को युद्ध में लड़ने को तैयार करने के लिये अपने को ईश्वर एवं ईश्वर का अवतार कह कर अपनी ओर आकर्षित करने, अपना भक्त बनाने अपनी भक्ति कराने का प्रपञ्च रचना उसी समय के लिये राजनैतिक क्षेत्र की वस्तु है, धार्मिक क्षेत्र की नहीं। अस्तु,

सम्राट् भरत—

भरतश्चक्रवर्ती यस्यान्ववाये भरताः सर्व एव।

(महा० अनुशासन प० अ० ७६। २६)

भरत चक्रवर्ती राजा हुए जिस के वंश में सब भरत ही प्रसिद्ध हैं।

धृतराष्ट्र का बल—

आयसी प्रतिमा येन भीमसेनस्य सा पुरा।
चूर्णीकृता बलवता सौबलामाश्रिता स्त्रियम्॥

(महा० आश्रमवासि० प० अ० ३। ६४)

धृतराष्ट्र जन्मान्ध थे पर बलवान् बहुत थे भीमसेन से चिढ़े हुए थे-भीमसेन की लोह की मूर्ति बना पास रखकर कहा कि यह भीमसेन है, उस "भीमसेन" की लोहमूर्ति को जिसने बलवान (धृतराष्ट्र) ने बगल में दबाकर चूर्ण कर दिया तोड़-फोड़ दिया।

युधिष्ठिर की धर्मपरायणता—

बड़ों का मान—

मया चैव भवद्भिश्च मान्य एष नराधिपः।
निदेशे धृतराष्ट्रस्य यस्तिष्ठति स मे सुहृत् ॥
विपरीतश्च मे शत्रुर्नियम्यश्च भवेन्नरः।

(महा० आश्रम वासिक प० अ० २ । ४, ५)

युधिष्ठर अपने सब बन्धु बान्धवों और अनुचरों को वनवास में धृतराष्ट्र की सेवा शुश्रूषा करते और अनुमति में रहने का आदेश देते हैं कि "यह महाराजा धृतराष्ट्र मेरे द्वारा और आप लोगों के द्वारा मान्य हैं जो इनकी आज्ञा। अनुमति में रहेगा वह मेरा मित्र और जो विपरीत वह मेरा शत्रु होगा।

भक्त-त्याग—

अनार्यमार्येण सहस्रनेत्र शक्यं कर्तुं दुष्करमेतदार्य ।
मा मे श्रिया सङ्गमनं तयास्तु यस्याः कृते भक्तजनं त्यजेयम् ॥
भीतिप्रदानं शरणागतस्य स्त्रिया वधो ब्राह्मणस्वापहारः ।
मित्रद्रोहस्तानि चत्वारि शक्र भक्तत्यागश्चैव समो मतो मे ॥

(महा० महाप्रस्थानिक प० अ० ३ । ९, १६)

स्वर्गारोहण के असवर पर युधिष्ठिर के साथ कुत्ता भी था इन्द्र ने स्वर्ग में कुत्ते को त्याग देने के लिये युधिष्ठिर को कहा युधिष्ठिर उसे छोड़ना नहीं चाहते थे वह इन्द्र को कहते हैं कि "हे दूरदर्शी" ! आप यह ऐसा अनार्य कर्म पाप आर्य के द्वारा किया जाना दुष्कर है, अर्थात् मैं नहीं कर सकूंगा हाँ ! भले ही उस लक्ष्मी से मेरा सङ्ग न हो, मुझे न प्राप्त हो यह अभीष्ट है जिस के कारण भक्त जन को छोड़ूं। तथा शरणागत को भय देना, स्त्रीवध, ब्राह्मण के धन का अपहरण करना, मित्र द्रोह करना, ये चारों और भक्त का त्याग समान हैं, यह मेरा मत है।

न्याय—

पानीयार्थं पराक्रान्ता यत्र ते भ्रातरो हताः ।
भीमार्जुनौ परित्यज्य यत्र त्वं भ्रातरावुभौ ।
मात्रोः साम्यमभीप्सन् वै नकुलं जीवमिच्छति ।।

(महा० महाप्रस्थानिक प० अ० ३ । २०)

यक्ष के अधिकृत तड़ाग में जल पीने के लिये गए हुए युधिष्ठिर के भीम आदि चारों भाई यक्ष द्वारा (मरे) मूर्च्छित कर दिए गए थे पुनः युधिष्ठिर गए तो यक्ष ने एक भाई को जीवित करने का वचन दिया था युधिष्ठिर ने नकुल को जीवित करने के लिये कहा। युधिष्ठिर के इस भाव की प्रशंसा यक्ष करता है कि "जल के लिये दौड़ कर आए हुए तेरे भाई जहां मरे हुए पड़े हैं उनमें से तू भीम अर्जुन आदि (अपनी माता कुन्ती से उत्पन्न हुए) भाईयों को छोड़कर कुन्ती और माद्री दोनों माता की समता को चाहते हुए नकुल को जीवित चाहता है। यह तेरा न्याय निष्पक्षता और ऊंचा धर्म है।

द्रौपदी युधिष्ठिर ही की धर्मपत्नी थी—

द्रौपदी पांच पाण्डवों की धर्मपत्नी थी ऐसा लोक में प्रवाद है और लोकप्रवाद का आधार भी है, वह आधार महाभारत में दिए वचन हैं परन्तु महाभारत में ऐसे भी वचन हैं जिन से यह सिद्ध होता है कि द्रौपदी पांचों पाण्डवों की धर्मपत्नी नहीं किन्तु युधिष्ठिर की धर्मपत्नी थी। अब इस प्रकार परस्पर के विरोध में यही कहना पड़ेगा कि एक स्थल का वर्णन मुख्य है दूसरे स्थल का गौण है, जो गौण ठहरेगा उसके सम्बन्ध में दो धारणाएं हो सकेंगी एक तो यह कि महाभारत में बहुत कुछ बढ़ा हुआ भाग है किसी ने बढ़ा दिया, दूसरा यह कि यहां कुछ लोकाचार या पारिवारिक प्रबन्ध

सम्बन्ध का व्यवहार कल्पित करना होगा। प्रथम उस पक्ष को रखेंगे जो लोकप्रवाद प्रचलित है कि द्रौपदी पांचों पाण्डवों की धर्मपत्नी थी, को देखें—

पाण्डवेभ्यो हि पाञ्चाल्यां द्रौपद्यां पञ्च जज्ञिरे।
कुमारा रूपसम्पन्नाः सर्वशास्त्रविशारदाः॥
प्रतिविन्ध्यो यु रा त्सुतसोमो वृकोदरात्।
अर्जुनाच्छ्रुतकीर्तिस्तु शतानीकस्तु नाकुलिः।
तथैव सहदेवाच्च श्रुतसेनः प्रतापवान्॥

(महा० आदि० पौष्य० अ० ६३। १२२, १२३)

पाण्डवों से पाञ्चाली द्रौपदी में पाँच कुमार सम्पन्न सर्वशास्त्र विशारद उत्पन्न हुए। युधिष्ठिर से प्रतिविन्ध्य, भीम से सुतसोम, अर्जुन से श्रुतकीर्ति, नकुल से शतानीक और सहदेव से श्रुतसेन उत्पन्न हुआ।

पाञ्चाल्यपि तु पञ्चभ्यः पतिभ्यः शुभलक्षणा।
लेभे पञ्च सुतान् वीराञ्छ्रेष्ठान् पञ्चाचलानिव॥
युधिष्ठिरात्प्रतिविंध्यं सुतसोमं वृकोदरात्।
अर्जुनाच्छ्रुतकर्माणं * शतानीकं च नाकुलिम्॥
सहदेवाच्छ्रुतसेनमेतान् पञ्च महारथान्।
पाञ्चाली सुषुवे वीरानादित्यानदितिर्यथा॥

(महा० आदि प० हरणाहरण० अ० २२ ३। ७८, ८०)

* पूर्ववर्ग में अर्जुन से श्रुतकीर्ति पुत्र और उत्तरवर्ग में श्रुतकर्मा कहा है यह भेद है।

शुभलक्षण वाली पाञ्चाली (द्रौपदी) ने पाँच पतियों श्रेष्ठ पर्वत के समान से पाँच वीर पुत्र प्राप्त किए। युधिष्ठिर से प्रतिविन्ध्य, भीम से सुतसोम, अर्जुन से श्रुतकर्मा, नकुल से शतानीक, और सहदेव से श्रुतसेन को पञ्चाली ने उत्पन्न किया जैसे अदिति ने आदित्यों को उत्पन्न किया।

ऊपर के दोनों स्थलों में द्रौपदी पाँचों पाण्डवों की धर्मपत्नी थी इस प्रवाद के पक्ष में दो बातें हैं एक तो प्रत्येक पाण्डव से प्रत्येक अलग अलग पुत्र उत्पन्न हुआ गिनाया गया, दूसरी बात दूसरे स्थल में पाँचों पाण्डवों को द्रौपदी के पति कहा गया है। दूसरा पक्ष महाभारत में यह मिलता है कि द्रौपदी पाँचों पाण्डवों की धर्मपत्नी नहीं थी। केवल युधिष्ठिर की धर्मपत्नी थी। अब उसे प्रस्तुत करते हैं—

जग्राह केशेषु नरेन्द्रपत्नीम्।

(महा० सभाप० द्यूतप० अ० ६७। २८)

"दुःशासन ने नरेन्द्र पत्नी द्रौपदी को केशों द्वारा खींचा।"

इस वचन में द्रौपदी को 'नरेन्द्रपत्नी' कहा है पाण्डवपत्नी नहीं कहा राजा को नरेन्द्र कहते हैं और राजा पाँचों पाण्डवों में युधिष्ठिर था, इस प्रकार द्रौपदी युधिष्ठिर की ही पत्नी हुई।

तामिमां धर्मराजस्य भार्यां सदृशवर्णनाम्।

(महा० सभाप० द्यूतप० अ० ६९। ११)

उस समान रंगवाली, धर्मराज की पत्नी को।

यहाँ धर्मराज की भार्या कहा है और धर्मराज युधिष्ठिर को कहते हैं, सदृशवर्णा (समानवर्णवाली) ऐसा कहा अर्थात् धर्मराज युधिष्ठिर जैसे रंगवाली, द्रौपदी थी। विवाह में पति पत्नी के गुण

और रंग की समानता होना वैवाहिक या शास्त्रीय मर्यादा है जैसा कि रामायण में राम की सीता से, और लक्ष्मण का उर्मिला से गुणकर्म और रूप समानता बतलाई गई है।

सदृशो धर्मसम्बन्धः सदृशी रूपसम्पदा।
राम लक्ष्मणयो राजन् सीतयोर्मिलया सह।

(वाल्मीकि रा० बालकाण्ड० ७२। ३)

यहाँ वाल्मीकि रामायण में राम का सीता के साथ और लक्ष्मण उर्मिला के साथ, रूप की समानता दिखलाई है, इस प्रकार युधिष्ठिर की रूप समानता द्रौपदी से भी कही गई है जो द्रौपदी को युधिष्ठिर की ही धर्मपत्नी थी, सिद्ध करती है।

अद्याहमनृणो भूत्वा भ्रातुर्भार्यापहारिणम्।
शान्ति लब्ध्वाऽस्मि..........॥

(महा० विराट्प० कीचकवध० अ० २२। ८०)

विराट् नगर में विराट् का सेनापति कीचक द्रौपदी को पतित करना चाहता था, उसे ताड़ित करता हुआ भीम कह रहा है कि "आज मैं भ्राता की पत्नी (युधिष्ठिर) की पत्नी को अपहरण करने वाले (कीचक) को मार अनृण होकर शान्ति को प्राप्त हुआ हूं।

यहाँ भीम ने द्रौपदी को पाण्डवपत्नी नहीं कहा न अपनी पत्नी कहा किन्तु युधिष्ठिर की पत्नी कहा है। इससे भी द्रौपदी युधिष्ठिर की पत्नी थी यह सिद्ध होता है।

विवेचन—

द्रौपदी पांचों पाण्डवों की धर्मपत्नी थी इस प्रवाद के पक्ष में महारत में आए उक्त प्रथम पक्ष की द्योतक दो बातें हैं, एक तो पाण्डवों से अलग अलग पुत्रों का द्रौपदी में उत्पन्न होना, दूसरी बात पाँचों पांडवों को द्रौपदी के पति कहा है। दूसरे पक्ष अर्थात्

द्रौपदी युधिष्ठिर ही की धर्मपत्नी थी, पाँचों पाण्डवों की नहीं इसकी द्योतक तीन बातें हैं, एक यह कि द्रौपदी को 'नरेन्द्र-पत्नी', राजा की धर्मपत्नी, दूसरी धर्मराज की पत्नी और उसके समान रंगवाली, तीसरी भीम के मुख से कहा गया 'द्रौपदी भ्राता की पत्नी युधिष्ठिर की पत्नी' है। दोनों पक्षों में से एक सत्य है। प्रथम पक्ष अर्थात् द्रौपदी पाँचों पाण्डवों की पत्नी थी इसकी पोषक दो बातें आईं और दूसरे पक्ष अर्थात् द्रौपदी केवल युधिष्ठिर की पत्नी थी इसकी पोषक तीन बातें आई हैं, पोषक संख्या की अधिकता से दूसरा पक्ष अर्थात् द्रौपदी केवल युधिष्ठिर की पत्नी थी यह पक्ष बलवान् हुआ तथा इस पक्ष में दी गई बातें मुख्य स्थान रखती हैं। उनमें लक्षणों का अवतार नहीं है। जब कि द्यूत के अवसर पर पांचों पाण्डव विराजमान हैं, तब द्रौपदी को पाण्डव पत्नी न कहकर धर्मराज (युधिष्ठिर) की पत्नी कहना और उसके समान रंगवाली वैवाहिक मर्यादा को भी साथ दर्शाना तथा पुनः उसे नरेन्द्र (राजा) की पत्नी कहना उसका युधिष्ठिर ही की पत्नी होना सिद्ध करता है और भीम के मुख से द्रौपदी को भ्राता (युधिष्ठिर) की पत्नी कहा जाना अपने को और अन्य पाण्डवों को भी पतित्व से अलग रखना तो द्रौपदी को युधिष्ठिर ही की पत्नी सिद्ध करने में सन्देह का अवसर न रखता हुआ सुतरां साधक है। इन कथनों में गौण-विचारधारा का समावेश या गौणी लक्षणा का अवसर नहीं है। पुनः पूर्वपक्ष अर्थात् द्रौपदी पाँचों पाण्डवों की पत्नी थी। दूसरी साधक दो बातें जो आई हैं कि पांचों पाण्डव द्रौपदी के पति थे और उन से एक एक पुत्र द्रौपदी के हुआ। इन दोनों बातों में गौणी लक्षणा का अवकाश है। वह इस प्रकार कि जैसे 'पितृ' शब्द पिता (बाप) के अर्थ में है, परन्तु 'पितरौ' पिता और माता

के अर्थ में तथा 'पितरः' बाप, चाचा, दादा माता, चाची, दादी आदि सबके लिए प्रयुक्त होजाता है, तथा जैसे एक कुलपति की अपनी स्त्री, छोटे भाई की स्त्री, पुत्रों की स्त्रियाँ साथ हों तो वह दूसरों को कहता है कि ये सब हमारी या अपनी स्त्रियाँ, बहुएं या औरतें हैं, ऐसा कह देता है जब कि एक पुरुष इन सारी स्त्रियों को अपनी स्त्रियाँ, बहुएं, औरतें गौणी लक्षणा से कह सकता है तब एक स्त्री अपने विवाहित पति के सब भाईयों को गृहपति होने की गौणी लक्षणा से पति कह सकती है कि यह सब हमारे पति लोग हैं। अस्तु, दूसरी बात एक एक से एक एक पुत्र द्रौपदी के हुआ। यहाँ भी गौणीलक्षणा का अवकाश है। लोक में देखते हैं कि घर में दो भाई होते हैं, एक बड़े भाई की स्त्री होती है उसके दो पुत्र हैं छोटे को छोटा भाई अपना पुत्र बनाता (मान लेता) है, स्त्री भी छोटे पुत्र को छोटे भाई का कह देती है, यह तुम्हारा है इसी प्रकार यहाँ द्रौपदी के पाँच पुत्र हुए। पाँचों को पाँचों पाण्डवों ने अपना अपना अलग अलग पुत्र मान लिया एवं पाँचों का अलग अलग बँटवारा कर दिया, पाँचों पाण्डवों के पुत्र बना दिए। यह एक पारिवारिक स्नेह और लोक-व्यवहार की बात है। महाभारत के वचनों में जो पञ्चमी विभक्ति से प्रकट किया है, उसमें 'प्रति' शब्द अन्तर्हित है जो कि प्रतिनिधि के अर्थ में होता है प्रतिनिधि अर्थवाले 'प्रति' शब्द को लक्ष्य कर पञ्चमी विभक्ति सार्थक है, 'अर्जुनात्' से तात्पर्य 'अर्जुनात्प्रति' समझा जा सकता है अर्थात् अर्जुन का प्रतिनिधि अर्जुन के निमित्त श्रुतकीर्ति पुत्र द्रौपदी ने उत्पन्न किया इत्यादि। अतः पूर्वपक्ष में लक्षणा का अवकाश होने से उत्तर पक्ष के मुख्य होने से द्रौपदी युधिष्ठिर की ही धर्मपत्नी थी। या इस उत्तरपक्ष के बलवान् होने से पूर्वपक्ष विषयक विचार 'प्रक्षिप्त' पश्चात् के बढ़ाए हुए भी कहे जा सकते हैं।

पाण्डवों के सभाभवन का दृश्य—

कृतो बिन्दुसरोरत्नैर्मयेन स्फाटिकच्छदाम् ।
अपश्यं नलिनीं पूर्णामुदकस्येव भारत ॥ २५ ॥
वस्त्रमुत्कर्षति मयि प्राहसत्स वृकोदरः । ॥ २८ ॥
पुनश्च तादृशीमेव वापीं जलजशालिनीम् ।
मत्वा शिलासमां तोये पतितोऽस्मि नराधिप ॥ २९ ॥
तत्र मां प्राहसत्कृष्णः पार्थेन सह सुस्वरम् ।
द्रौपदी च सह स्त्रीभिर्व्यथयन्ती मनो मम ॥ ३० ॥
क्लिन्नवस्त्रस्य तु जले किंकरा राजनोदिताः ।
ददुर्वासांसि मेऽन्यानि तच्च दुःखं परं मम ॥ ३१ ॥
प्रलम्भं च शृणुष्वान्यद्वदतो मे नराधिप ।
अद्वारेण विनिर्गच्छन्द्वारसंस्थानरूपिणा ।
अभिहत्य शिलां भूयो ललाटेनास्मि विक्षतः ॥ ३२ ॥
तत्र मां यमजौ दूरादालोक्याभिहतं तदा ।
बाहुभिः परिगृह्णीतां शोचन्तौ सहितावुभौ ॥ ३३ ॥
उवाच सहदेवस्तु तत्र मां विस्मयन्निव ।
इदं द्वारमितो गच्छ राजन्निति पुनः पुनः ॥ ३४ ॥
भीमसेनेन तत्रोक्तो धृतराष्ट्रात्मजेति ।
संम्बोध्य प्रहसित्वा च इतो द्वारं नराधिप ॥ ३५ ॥
नामधेयानि रत्नानां पुरस्तान्न श्रुतानि मे ।
यानि दृष्टानि मे तस्यां मनस्तपति तच्च मे ॥ ३६ ॥

(महा० सभाप० अ० ५०)

दुर्योधन पाण्डवों के सभाभवन को देखने गए थे, वह धृतराष्ट्र से वहां का वर्णन करते हैं कि—

मय के द्वारा बिन्दुसर के रत्नों से जड़ित स्फाटिकमणि काँच की बनी छतवाली, जल से भरी जैसी पुष्करिणी को मैंने देखा और मैंने

वस्त्र ऊपर उठाये तो भीम ने प्रहास किया। फिर वैसी ही जल भरी वापी को शिला की भांति जानकर मैं उसके जल में गिर पड़ा तब मुझ पर कृष्ण अर्जुन सहित ऊंचे से हंस पड़े, द्रौपदी ने भी स्त्रियों सहित मुझे व्यथित किया। जल में भीगे वस्त्र वाले को मुझे युधिष्ठिर की प्रेरणा से नौकरों ने वस्त्र दिए यह मेरे दुःख की बात है। और मेरी वञ्चना (धोका खाने की बात) सुन कि द्वार जैसे दीखे हुए अद्वार से निकलते हुए मेरे शिला के टकराने से ललाट में चोट खा बैठा, वहाँ मुझे नकुल सहदेव ने भुजाओं से पकड़ कर संभाला और विस्मय करते हुए सहदेव ने कहा कि यह द्वार है, यहाँ से जावें। भीमसेन ने हंसकर कहा कि हे धृतराष्ट्र पुत्र ! इधर द्वार है। हे राजन् ! जो मैंने वहाँ सभाभवन में रत्न जड़े देखे हैं उनके नाम मैंने कभी नहीं सुने इससे मेरा मन दुःखता है।

पाण्डवों के वनप्रस्थान के पश्चात् राज्य का उत्तराधिकारी—

ततो युयुत्सुमानाय्य प्रव्रजन् धर्मकाम्यया।
राज्यं परिददौ सर्वं वैश्यापुत्रे युधिष्ठिरः॥
अभिषिच्य स्वराज्ये च राजानं च परिक्षितम्।
दुःखार्तश्चाब्रवीद्राजा सुभद्रां पाण्डवाग्रजः।

(महा० महाप्रास्थानिकप० अ० १ । ६ । ७)

पाण्डवों के ज्येष्ठ भ्राता राजा युधिष्ठिर ने धर्म कामना को लक्ष्यकर वनप्रस्थान करते हुए उस अवसर पर युयुत्सु (धृतराष्ट्र के वैश्या पुत्र) को बुलाकर उस वैश्या पुत्र को राज्य सौंप दिया और स्वराज्य में परीक्षित (अर्जुन के पौत्र-अभिमन्यु के पुत्र ज्येष्ठ जनमेजय के पुत्र) को राजा अभिषिक्त कर दुःखित हो, सुभद्रा (कृष्ण की बहिन और अर्जुन की पत्नी अभिमन्यु की माता परीक्षित की दादी) को बोला।

पाण्डवों की हिमालय यात्रा—

भ्रातरः पञ्च कृष्णा च षष्ठी श्वा चैव सप्तमः।

(महा० महाप्रास्थानिकप० अ० १ । २४)

ततस्ते नियतात्मानः उदीचीं दिशमास्थिताः।
ददृशुर्योगयुक्ताश्च हिमवन्तं महागिरिम् ॥

(महा० महाप्रस्थानिकप० २ । १)

पांचों भाई पाण्डव, छठीं द्रौपदी और सातवां कुत्ता घर से साथ चल पड़े। वे संयमशील पुनः उत्तर दिशा को प्राप्त हुए, योग में संलग्न हुए वहाँ उन महानुभावों ने हिमवान्—हिमालय महा-पर्वत को देखा।

स्वर्ग-त्रिविष्टप (तिब्बत) में पाण्डवों की यात्रा का अन्त—

स्वर्गं त्रिविष्टपं प्राप्य मम पूर्वपितामहाः।

(महा० स्वर्गारोहणप० अ० १ । १)

जनमेजय ने वैशम्पायन से पूछा कि "मेरे पूर्वपिता महाजनों ने स्वर्ग—त्रिविष्टप (तिब्बत) पहुँचकर क्या किया" ?

पाण्डव जन तिब्बत में पहुँचकर एक एक करके हिम (बर्फ) में गिरते, गलते, मरते गए, केवल युधिष्ठिर और एक कुत्ता ही शेष रहे थे। युधिष्ठिर अन्त में योग-मृत्यु को प्राप्त हो गए।

॥ इति ॥



सत्संग यज्ञ विधि

लेखक—श्री धर्मेन्द्रवीरजी शिवहरे, बी०, ए०. एल. एल. बी. सुपरिण्टेण्डेण्ट
गवर्नमेंट प्रेस, जोधपुर (राजस्थान)

पारिवारिक सत्संग में यज्ञ के मंत्रों का क्रम एक स्थान पर न मिलने से कठिनाई का अनुभव करना पड़ता है और विशेषकर जब कि उसमें भाग लेने वाले सदस्य यज्ञ के मंत्रों से अनभिज्ञ होते हैं, उनको एक २ मंत्र को पृथक् २ स्थानों पर देखने में अधिक समय व्यतीत करना पड़ता है।

अभी तक कोई भी ऐसी पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई जो कि इन कठिनाइयों को हल कर सके। इस पुस्तक के प्रारम्भ में लेखक ने यज्ञ-कुण्ड, हवन सामग्री, यज्ञपात्र की सुन्दर परिभाषा है। इसमें संध्या, हवन व शान्तिपाठ के मंत्रों के शब्दार्थ भली प्रकार दिये हैं जिससे प्रत्येक व्यक्ति मन्त्रार्थ भली प्रकार समझ सके। इस पुस्तक में पारिवारिक यज्ञ के मंत्रों का एक स्थान पर मिलने से समय की पूर्ण रुप से बचत होती है। अन्त में आरती, भजन, उपदेश आदि भी दिये हैं जो सत्संग में अत्युपयोगी हैं। आशा है आर्य जगत् इसका हृदय से स्वागत करेगा। पुस्तक का साइज़ सुन्दर गेट-अप उत्तम मूल्य स्वल्प रखा गया है। मू०

स्वस्थ-जीवन

(लेखक—डा० सूर्यदेवजी शर्मा सिद्धान्त शास्त्री एम. ए. एल. टी. डी. लिट्, हैडमास्टर डी. ए. वी. हाई स्कूल अजमेर)

इस पुस्तक में ब्रह्मचर्य, प्राणायाम, व्यायाम, आहार संबन्धी उत्तम उपदेश भली प्रकार दिये गये हैं। सर्वसाधारण को स्वस्थ रहने के लिए इस पुस्तक में लिखी बातों पर आचरण करने से लाभ होगा। अतः सब महानुभावों को इस पुस्तक की १-१ प्रति अवश्य मंगानी चाहिए। पुस्तक का कागज़, टाइप छपाई व गेट-अप सभी उत्तम रक्खा गया है।

मूल्य १।) सवा रुपया

